विचित्र महोत्सव

(जैनधर्म की मौलिक कहानियाँ)

- जयन्तिलाल जैन

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के माध्यम से कथा साहित्य के रूप में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया गया है, 'विचित्र महोत्सव' कहानी संग्रह भी उन्हीं में से एक है। इस कथा संग्रह में श्री जयन्तीलाल जैन की 17 कहानियों का संकलन है, जो एक से बढ़कर एक हैं।

वैसे तो ये सभी कहानियाँ जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) में प्रकाशित हो ही चुकीं हैं। इन कहानियों में जयन्तीलालजी ने जैनदर्शन के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को सरल ढंग से कहने का प्रयास किया है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि कथा साहित्य अन्य गद्य साहित्य की तुलना में अधिक रुचिपूर्वक पढ़ा जाता है। यदि हम इस लोकप्रिय शैली के माध्यम से जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों को लिखने और प्रकाशित करने का प्रयास करें तो आवाल वृद्ध और कम पढ़े-लिखे लोगों तक भी जिनवाणी पहुँचा सकते हैं।

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए अब तक कथानक शैली में अहिंसा के पथ पर, सत्य की खोज, आप कुछ भी कहो, संस्कार, विदाई की बेला, राम कहानी, इन भावों का फल क्या होगा, सुखी जीवन तथा प्रस्तुत कृति 'विचित्र महोत्सव' प्रकाशित की जा रही है, उपर्युक्त सभी कृतियाँ हाथों-हाथ बिक रही हैं।

हम चाहते हैं इसीप्रकार का उपयोगी कथा साहित्य और भी जितना संभव हो लिखा जावे और प्रकाशित होवे, ताकि सभी लोग तत्त्वज्ञान से लाभान्वित होते रहें।

श्री जयन्तीलालजी एक उदीयमान कहानी लेखक हैं, हमारी उनके प्रति यही मंगल कामना है कि वे इस क्षेत्र में इसीप्रकार सक्रिय रहकर निरन्तर जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में सहयोगी बने रहें।

लेखक की स्वाध्याय में तो गहरी रुचि है ही, कथा साहित्य रचना के क्षेत्र में भी इन्होंने जो कदम रखा है, यह स्वागत योग्य है।

इस कहानी संग्रह के सम्पादन संशोधन में विद्वद्वर्य श्री पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल तथा पुस्तक के प्रकाशन में श्री अखिल बंसल का जो सराहनीय सहयोग रहा, लेखक के साथ ये भी बधाई के पात्र हैं।

– ब्र. यशपाल जैन एम.ए.
प्रकाशन मंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

सम्पादकीय

सम्पूर्ण साहित्य विधाओं में कथा साहित्य ही एक ऐसी लोकप्रिय विधा है, जिसे बालक, युवा, वृद्ध, शिक्षित और साक्षर – सभी व्यक्ति समान रूप से पसन्द करते हैं और रुचि से पढ़ते हैं।

कथा शैली सरल और रोचक होने से सभी की समझ में भी सरलता से आ जाती है तथा पढ़ने में अधिक थकावट भी नहीं आती।

कथा साहित्य में कहानीकार विषयवस्तु को छोटे-छोटे कथोप-कथनों द्वारा जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में मनोवैज्ञानिक ढंग से पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा प्रस्तुत करता है।

यद्यपि जैनदर्शन के अध्यात्म को कथा शैली में प्रस्तुत करना सहज कार्य नहीं है; क्योंकि अध्यात्म विषय अत्यन्त सूक्ष्म, गम्भीर और अनादि से अपरिचित है। इसी कारण सहज ग्राह्य भी नहीं हैं। फिर भी प्रथमानुयोग के माध्यम से प्राचीनकाल में भी इस कथाशैली द्वारा जैन तत्त्वज्ञान को कहने के प्रयोग हुए हैं।

वयोवृद्ध पुरुषवर्ग और महिला वर्ग तो आज भी पुराण साहित्य को भी खूब रुचि से पढ़ता है, पर नवयुवकों और बालकों में स्वाध्याय की रुचि नहीं है। एतदर्थ नई कथा शैली के विकास की अति आवश्यकता है।

जो भी कथा-कहानियाँ नई शैली में इन दिनों प्रकाशित हुईं हैं, उन्हें पाठकों ने सिर माथे लिया है, खूब पढा-पढ़ाया है, प्रसन्नता भी प्रकट की है।

भाई जयन्तीलाल जैन ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयोग किया है। हम उनकी इन कहानियों को वर्तमान कहानी कला की कसौटी पर परखने के बजाय उनकी तात्त्विक विषयवस्तु को प्रस्तुत करने के प्रारम्भिक प्रयास को देखें तो हमें बहुत कुछ संतोष होगा।

श्री जयन्तीलाल जैन एक उदीयमान कहानी लेखक हैं, उनका मूल उद्देश्य कहानीकार के रूप में उभरना नहीं; बल्कि जैन तत्त्वज्ञान को कहानी के माध्यम से जन साधारण तक पहुँचाना है। उनकी प्रत्येक कहानी पाठकों को तत्त्वज्ञान तो देती ही है, जैनदर्शन को समझने की

जिज्ञासा भी उत्पन्न करती है और जैन साहित्य को पढ़ने की प्रेरणा भी देती है। इस दृष्टि से कहानियाँ सभी के लिए उपयोगी हैं।

श्री जयन्तीलाल स्वयं स्वाध्यायशील व्यक्ति हैं, उनका तत्त्वज्ञान उनकी प्रस्तुत कहानियों में झलकता है। ये सभी कहानियाँ हमारे पास जैनपथ प्रदर्शक में प्रकाशनार्थ आईं थीं। जिनमें से अधिकांश कहानियाँ आवश्यक संशोधन के साथ समय-समय पर जैनपथ प्रदर्शक में प्रकाशित भी हो चुकी हैं।

इसे लेखक की सरलता, सहजता और उदारता ही कहना चाहिए कि कहानियाँ भेजने के साथ उन्होंने मुझे इनमें सम्पूर्णतः संशोधन करने का दायित्व भी सौंप दिया। भाषा के परिमार्जन सम्बन्धी एवं साहित्य सौंदर्य में वृद्धि हेतु तथा सिद्धान्त विषयक मैंने अपनी अल्पमति के अनुसार उन्हें जो भी सम्भव परामर्श दिया और संशोधन सुझाये, उन्होंने बहुत आदरभाव के साथ स्वीकार किया तथा हर्ष भी प्रकट किया।

आगे भी कहानियाँ लिखना और हमारे पास भेजना बराबर चालू रखा। धीरे-धीरे उनकी लेखन शैली में विकास होता गया और 'विचित्र महोत्सव' जैसी वैराग्य प्रेरक कहानी भी उनकी लेखनी से ही प्रसूत हुई हैं।

इसी कहानी के नाम पर ही इस कहानी संग्रह का नाम भी 'विचित्र महोत्सव' रखा गया है।

हमें आशा है वे भविष्य में भी कहानी लिखने का क्रम चालू रखकर जैनकथा साहित्य को समृद्ध करेंगे।

जैन साहित्य में वर्तमान शैली में ऐसा कथा साहित्य बहुत कम है, जिसे नई पीढ़ी पढ़े और प्रभावित होकर जैन तत्त्वज्ञान की ओर आकर्षित हो।

आशा है पाठक प्रस्तुत कहानियों द्वारा लाभान्वित तो होंगे ही, अपनी प्रतिक्रिया प्रगट करके लेखक को प्रोत्साहित भी करेंगे।

हम भी लेखक के उज्जवल भविष्य की कामना के साथ-साथ अपनी बात समाप्त करते हैं।

— रतनचन्द भारिल्ल

अपनी बात

भगवान महावीर की परम्परा से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचंद्र, आचार्य समन्तभद्रादि आचार्यों एवं बनारसीदासजी, टोड़रमलजी, गुरुदेव श्री कानजी स्वामी एवं उनके तत्त्व प्रचारक शिष्य श्री रतनचन्दजी भारिल्ल एवं डॉ॰ हुकुमचन्दजी भारिल्ल आदि द्वारा जो कुछ भी तत्त्वज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है; वही मैने इस पुस्तक में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक का उदय अपने स्व-काल में स्वयं की योग्यता से हुआ है। मैं तो इसमें निमित्त मात्र हूँ। आप भी इसको इसी संदर्भ में ग्रहण करें और अपनी आत्मा का कल्याण करें।

यह कोरी कहानियाँ मात्र नहीं हैं; बल्कि इनमें जैन तत्त्वज्ञान कूट-कूट कर भरा हुआ है, इसलिये इसका बारम्बार स्वाध्याय करने का आपसे निवेदन है।

आदरणीय पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल साहब के प्रयासों का ही यह सुपरिणाम है कि यह पुस्तक इस रूप आपके हाथों में है। प्रस्तुत पुस्तक का संपादन करने के रूप में तो आपका पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त हुआ ही है, साथ ही साथ पुस्तक के प्रकाशन व्यवस्था की भी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की एतदर्थ आपका जितना भी उपकार माना जाय, कम ही है।

अन्त में, सभी जीव इन कहानियों के माध्यम से अपने आत्मस्वरूप को समझकर अपनी आत्मा का कल्याण करें। स्वभाव से तो सभी भगवान हैं ही; पर्याय में भी भगवान पना प्रगट करें इसी परम पवित्र भावना के साथ विराम।

– जयन्तिलाल जैन नौगामा

कहानी-क्रम

क्र॰	कहानी	पृष्ठ
01॰	विचित्र महोत्सव	9
02॰	चित्र-विचित्र गज़ब की दुनिया	19
03॰	प्रोफेसर की डायरी	27
04॰	सफेद बाल	36
05॰	बरगद का मोक्ष	49
06॰	सुख का रहस्य	60
07॰	करनी का फल	62
08॰	अधुव के उस पार	68
09॰	कूप मण्डूक को जगी जिज्ञासा	78
10॰	इतिहास के पन्ने	95
11॰	संयम	105
12॰	दर्पण का संदेश	111
13॰	एक सोहन और एक मोहन	115
14॰	परोपकार	120
15॰	दृढ़ प्रतीति	128
16॰	निरीक्षण	134
17॰	पुण्यास्त	140

लेखक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)(उपन्यास)	६० हजार ५००	३०.००
०२.विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	२ लाख १२ हजार	१५.००
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	५८ हजार	२०.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी, मराठी) (चतुर्थ संस्करण)	२६ हजार	२०.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	७२ हजार ५००	१०.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि.,म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु.,क.)	७७ हजार २००	१०.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	१० हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१(हि.म.गु.क.त.अं.)	४ लाख १२ हजार २००	३.००
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (दो संस्करण हिन्दी)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि	५ हजार	४.००
१३. हरिवंश कथा (चार संस्करण)	१४ हजार	४०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन (दो संस्करण)	५ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (चार संस्करण)	९ हजार	३०.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (चार संस्करण)	७ हजार	४०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (पाँच संस्करण) निबंध	१६ हजार ५००	२०.००
१८. नींव का पत्थर (उपन्यास)(पाँच संस्करण)	१५ हजार	१४.००
१९. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद)	५ हजार	३.००
२०. तीर्थंकर स्तवन	५ हजार	१.००
२१. साधना-समाधि और सिद्धि (दो संस्करण)	५ हजार	५.००
२२. चलते फिरते सिद्धों से गुरु (दो संस्करण)	१० हजार	१८.००
२३. जान रहा हूँ देख रहा हूँ (कहानियाँ)चार संस्करण	११ हजार	१२.००
२४. पंचास्तिकाय परिशीलन	३ हजार	५०.००
२५. यदि चूक गये तो (तीन संस्करण)	५ हजार	१५.००
२६. जिन खोजा तिन पाइयाँ (तीन संस्करण)	५ हजार	१५.००
२७. ये तो सोचा ही नहीं (उपन्यास)(चार संस्करण)	१५ हजार १००	२०.००
२८. जम्बू से जम्बू स्वामी	६ हजार	६.००

सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) –

२९ से ३९. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
४०. सम्यग्दर्शन प्रवचन	३ हजार	१५.००
४१. भक्तामर प्रवचन	३८ हजार ४००	१८.००
४२. समाधिशतक प्रवचन	३ हजार	२५.००
४३. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)	८ हजार २००	८.००
४४. गागर में सागर (प्रवचन)	२३ हजार ६००	७.००
४५. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	१ लाख ५८ हजार	५.००
४६. गुणस्थान-विवेचन	३० हजार ५००	३५.००
४७. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)	२७ हजार २००	१२.००
४८. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)	१२ हजार	१५.००

४९. अध्यात्म वरणी (तारण स्वामी)

५० से ५४. जैनपथप्रदर्शक के ५ विशेषांक –

(आ. श्री कुन्दकुन्द, श्रीकानजीस्वामी, श्री बाबूभाई, श्री रामजीभाई एवं श्री खेमचन्दभाई)

विचित्र महोत्सव

काशी निवासी पण्डित केशवलालजी को कौन नहीं जानता? धर्मात्मा और विद्वान के रूप में अपने नगर में तो वे प्रसिद्ध थे ही, पर पूरे देश में भी उनकी प्रसिद्धि थी। देशभर के समस्त बड़े-बड़े विद्वानों और पंडितों के साथ उनका सम्पर्क सदैव बना ही रहता था। अपने धर्मप्रिय परिचितों के सामने कभी-कभी वे अपनी यह भावना भी प्रगट करते रहते थे कि अपने जीवनकाल में वे एक बहुत बड़े उत्सव का आयोजन करवाने की भावना रखते हैं। काशीनगर की जैनसमाज के भी कई लोग उनकी इस भावना से परिचित थे।

पण्डित केशवलालजी की बहुत उम्र व्यतीत हो गयी, फिर भी उन्होंने अभीतक उस उत्सव का आयोजन नहीं करवाया। जिसकी वर्षों से चर्चा है। इस कारण कोई-कोई परिचित उनसे पूछ लेते – क्यों भाई! तुम तो उत्सव करवाने वाले थे, कब करवाओगे?

कोई तो इस बात को सहजभाव से पूछ लेता तो कोई व्यंग्य में कहता – क्यों पण्डितजी! अब किस बात की देरी है? क्या मरते वक्त करवाओगे वह उत्सव? उत्सव करवाने का सोचते-सोचते तो तुम बुड्ढे हो गये। क्या पता करवा भी पाओगे या नहीं?

तब पण्डितजी शांतभाव से मुस्कराते हुए कहते – "हाँ उत्सव का आयोजन करवाना है। अभी तो तैयारियाँ चल रही हैं। अपने स्व-काल में उत्सव का आयोजन अवश्य होगा। कोई अच्छा-सा मुहूर्त्त आने दो भैया।"

लोगों को पण्डितजी की बात सुनकर आश्चर्य होता। मन ही मन विचार करते – पण्डितजी इतने बूढ़े तो हो चले।

धीरे-धीरे शरीर भी काफी दुबला-पतला होता चला जा रहा है। ऐसी कमजोरी में क्या उत्सव का आयोजन करवायेंगे। उत्सव का आयोजन करवाना ही था तो जवानी में ही करवाते।

कोई-कोई कहता – अरे! ये क्या करवायेंगे उत्सव? लोगों को बुद्धू बनाने की कोरी बातें करते हैं। उत्सव के लिए तो धन की आवश्यकता होती है। उनके पास इतना धन है ही कहाँ?

"धन की तो कमी नहीं है इनके पास। कमानेवाले बेटे हैं इनके। अच्छी-खासी आमदनी है, पर हर कोई धर्मकार्य के लिए धन थोड़ी खर्च कर सकता है। यह तो कंजूसों के बस की बात नहीं है।" दूसरा व्यक्ति कहता।

यह बात नहीं थी कि पंडितजी कंजूस थे। समय-समय पर धर्मकार्यों के लिए सामर्थ्यानुसार दान भी करते रहते थे, पर वे दान भी गुप्तरूप से करते थे। नाम कमाने की भावना से पाटियों पर नाम लिखा कर दान देने की बजाय गुप्तदान देना ही उन्हें ज्यादा पसन्द था। पर भोले लोग इस रहस्य को क्या जानें?

एक दिन पण्डितजी की आँखों की रोशनी चली गयी। साथ ही हल्का-सा स्वास्थ्य भी बिगड़ गया। वैद्य को बुलवाया गया। हल्का-हल्का धुँधला-सा दिखाई देता था। निरीक्षण करने के बाद वैद्य बोला – अफसोस। आयुर्वेदिक दवाइयाँ पण्डितजी की रोशनी लौटाने में समर्थ नहीं हैं। इसके लिए तो ऑपरेशन की जरूरत है। अंग्रेजी दवाइयों का सेवन पंडितजी को करना होगा।

तब पण्डितजी बोले – वैद्यजी। आप तो जानते ही हैं, अंग्रेजी दवाइयाँ मेरे काम नहीं आती। आप तो कोई आयुर्वेदिक दवाई ही दे दीजिए। ठीक होना होगा तो हो ही जायेगा, वर्ना

कोई बात नहीं।

वैद्य भी जानते थे कि बिना ऑपरेशन के मामला सुधरने वाला नहीं है तो भी पण्डितजी के आग्रह पर आयुर्वेदिक दवाइयाँ ही देकर चले गये।

उस समय पण्डितजी के परिवारवाले भी वहीं उपस्थित थे। सभी जानते थे कि पण्डितजी नियम के बड़े पक्के हैं। फिर भी बड़ा बेटा बोला – पिताजी आप आज्ञा दें तो हम आपको अस्पताल ले चलें। पर पण्डितजी ने स्पष्टरूप से दृढ़स्वर में मना कर दिया।

पण्डितजी मन ही मन सोचने लगे – आँखें चली गयीं इसका अर्थ है कि अब महोत्सव का समय आ ही चुका है। मुझे महोत्सव की घोषणा कर ही देनी चाहिए और अन्दर ही अन्दर दृढ़ निश्चय करके अपने परिवारवालों से दृढ़तापूर्वक बोले – "सुनो मैं अब मृत्यु-महोत्सव मनाना चाहता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि मैं अब अधिक दिनों तक जी नहीं सकता और मुझे अब जीने की कोई तमन्ना भी नहीं है, क्योंकि इस पर्याय में रहकर अब अच्छी तरह से धर्म का पालन करने में मैं असमर्थ हूँ।" कहते हुए कुछ देर के लिए रुके, फिर उसी दृढ़ता के स्वर में पुनः कहने लगे – "बेटा। तुम मेरे सभी मित्रों को सूचना भिजवा दो कि पंडितजी जिस उत्सव के मनाने का कभी-कभी जिक्र किया करते थे वो उत्सव मनाने का अवसर आ चुका है। अतः आप शीघ्र ही यहाँ आकर पण्डितजी के मृत्यु महोत्सव में सम्मिलित होकर पण्डितजी की सहायता करें।"

पण्डितजी के प्रमुख धार्मिक मित्रों को खबर करवा दी गयी। एक-दो दिनों के अंदर-अंदर तीन-चार धर्मात्मा मित्र पंडितजी के यहाँ बाहर से आ पहुँचे। काशी के ही एक-दो

मित्र तो आते-जाते रहते थे। काशी की जैनसमाज में भी शीघ्र ही यह बात फैल गयी कि पंडितजी शीघ्र ही सल्लेखना व्रत लेनेवाले हैं। मृत्यु महोत्सव का आयोजन करने वाले हैं।

और एक दिन अपने धर्मात्मा मित्रों की उपस्थिति में पंडितजी के मृत्यु-महोत्सव की स्थापना की गयी।

पंडितजी के परिवारवालो ने भी किसी प्रकार की मोह-जनित आना-कानी नहीं की, क्योंकि पंडितजी के परिवार के सभी सदस्य तत्त्वज्ञानी थे। स्वयं पण्डितजी ने शुरू से ही सबमें तत्त्वज्ञान के संस्काररूप बीज डाले थे।

बाहर से पधारनेवाले पंडितजी के मित्रों में एक तो थे जयपुर निवासी उत्साही युवा चन्द्रप्रकाशजी, दूसरे नागपुर निवासी सुजानमलजी, तीसरे थे राजकोट निवासी डाह्यालालजी तथा चौथे थे पिड़ावा निवासी राजमलजी।

आते ही तुरन्त चन्द्रप्रकाशजी बोले – "पंडितजी साहब। आप धन्य हैं। महान् भाग्यशाली हैं जो ऐसी विषम परिस्थितियों में भी धैर्य धारण किये हुए हैं। आप आराधनापूर्वक मरण को

आलिंगन करना चाहते हैं। धन्य है आपका विवेक। आप जैसे उत्तम पुरुषों को ही ऐसे उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं। सारे जीवनभर पालन किये गये व्रत-तप एवं संयम की सार्थकता इसी में है कि अन्तिम समय में सल्लेखना व्रत अंगीकार किया जाय। वास्तव में पंडितजी साहब! आप धन्य हैं। आप निश्चिन्त रहें। आपकी सभी प्रकार से सहायता करने के लिए हम तत्पर हैं।"

अन्य मित्रों ने भी लगभग इसीप्रकार के भाव व्यक्त किये। पंडितजी ने कहा – "आप जैसे धर्मात्मा मित्रों के रहते हुए मुझे चिन्ता किस बात की? मुझे तो बेहद खुशी है कि आप मेरे इस महोत्सव में भाग लेने के लिए सही समय पर उपस्थित हो गये। अज्ञानदशा के साथ कषायों से युक्त बाल मरण तो पूर्व में भी कई बार किये हैं। अब तो निःकषायभाव से आत्मा में लीन रहते-रहते ही यह देह छूट जाये बस यही शुभभावना है।"

"भई पण्डितजी साहब! देह का क्या छूटना है। देह के साथ जो ममत्व है, उस ममत्व को छोड़ना है। अपने ही आत्मस्वरूप में अधिक से अधिक रमणता किया करो। ममत्व भी अपने आप छूट जायेगा। शरीर (देह) सम्बन्धी विकल्प व्यर्थ है। देह का संयोग कबतक रहना या न रहना, इसकी व्यवस्था हमारे बस की बात नहीं है। उसका परिणमन स्वतंत्र है। अपना परिणमन स्वतंत्र है। अपना कर्तव्य तो स्व-सन्मुखतापूर्वक मात्र जानते ही रहने का है।" पण्डितजी की बात सुनकर राजमलजी आध्यात्मिक चर्चा छेड़ने के लिहाज से बोले थे।

"तुम बिल्कुल ठीक कहते हो" पण्डितजी ने कहा था। उस समय उन्हें बोलने में थोड़ी तकलीफ हो रही थी; इसलिए कुछ ज्यादा चर्चा न चल सकी थी।

मृत्यु-महोत्सव की स्थापना के पहले दिन पण्डितजी ने

अपने मित्रों की उपस्थिति में अपने सभी परिवार के सदस्यों को बुलाया और कहा – "सुनो तुम मेरे स्नेही एवं हितैषी हो, सम्बन्धी हो, पर यह सब सम्बन्ध मात्र शरीर से ही सम्बन्धित है। तुम इस शरीर से उपजे पुत्र-पुत्री हो, इस शरीर को रमानेवाली स्त्री हो, इस शरीर के कुल के संबंधी हो सो यह सम्बन्ध इतने ही काल का था। अब यह शरीर ही नष्ट होने जा रहा है। इसलिए किसी भी प्रकार का सम्बन्ध मानना व्यर्थ है। प्रत्येक का एकमात्र अपनी आत्मा के साथ ही सच्चा सम्बन्ध हो सकता है; इसलिए इस विनाशीक शरीर से स्नेह रखना व्यर्थ है। आप मेरे हितैषी हैं; इसलिए जैसे मेरे ज्ञान, दर्शन एवं वीतराग स्वभाव का घात न हो वैसा प्रयत्न करना। अन्य किसी भी प्रकार की संसार में उलझानेवाली बातें मत करना। अब मेरा आपके साथ किसी भी प्रकार का नाता नहीं है। मात्र साधर्मी का-सा व्यवहार रखना।"

सबने यह बात नोट की कि पंडितजी ने जिससमय उक्त बातें कीं, उस समय वातावरण ने काफी भावुकता का रुख ले लिया। किन्हीं-किन्हीं की तो आँखें भी नम हो आयीं; परन्तु पण्डितजी के चेहरे से निर्ममत्व का भाव स्पष्टरूप से झलक रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे वे आत्मारूप ही रहकर ममत्व को जीतने का भयंकर प्रयत्न कर रहे हों। चेहरे पर आकुलता के किसी भी प्रकार के भाव नहीं थे; बल्कि एक विचित्र प्रकार की शान्ति झलक रही थी।

आज के दिन पण्डितजी ने उपवास की प्रतिज्ञा ली थी। मात्र एक बार थोड़ा-सा जल लिया। शेष समय मित्रों से स्वाध्याय सुनने एवं आध्यात्मिक चर्चा करने में ही व्यतीत हो गया। उपवास के कारण किसी भी प्रकार की तकलीफ नहीं हुई, क्योंकि वे उपवास करने के तो अभ्यस्त थे। प्रत्येक

अष्टमी व चौदस को उपवास करते थे।

दूसरे दिन पण्डितजी ने एकादश का व्रत ले लिया। आजके दिन की विशेषता यह रही कि पण्डितजी के इशारे पर दो वसीयतनामे पढ़कर सबको सुनाए गए। पहली वसीयत तो वैसी ही थी, जैसी की आम तौर पर होती है पर दूसरी वसीयत कुछ विचित्र ही प्रकार की थी। इसको धार्मिक वसीयत भी कहा जा सकता था। इसमें लिखा था – मेरी हार्दिक इच्छा यह है कि मेरे मरने पर किसी भी प्रकार का हाय-विलाप अथवा रुदन न होने दिया जाय; बल्कि शान्तिपूर्वक वैराग्य मंत्र व बारह भावनाओं के पाठपूर्वक अंतिम संस्कार विधि सम्पन्न करायी जाये। इसके पश्चात् नव दिनों तक बराबर दो समय स्वाध्याय का आयोजन घर पर ही करवाया जाय। धार्मिक कार्यों के अलावा अन्य किसी भी प्रकार की मूढ़ता जनित कोई भी विधि सम्पन्न न करायी जाय तथा मिलने के लिए आनेवाले सभी व्यक्तियों को स्वाध्याय के लिए वैराग्योत्पादक धार्मिक पुस्तकें ही भेंट की जायें।

मेरे परिवारवालों एवं मेरे इष्टमित्रों से मेरा हार्दिक अनुरोध है कि वे अपने जीवन का अधिकाधिक समय अनन्त प्रभुतासम्पन्न अपने भगवान आत्मा की आराधना में ही व्यतीत करें। स्वाध्याय-चिन्तन-मनन आदि धार्मिक कार्यों को ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बनावें तथा अन्तसमय में "मृत्यु- महोत्सव" के आयोजनपूर्वक देह का विसर्जन करें।

उक्त वसीयत को सुनकर वहाँ उपस्थित लोगों ने काफी प्रसन्नता का अनुभव किया था तथा मन ही मन सभी ने पण्डितजी की सभी भावनाओं का अनुकरण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था।

इसी बीच पण्डितजी के स्वास्थ्य में काफी गिरावट आ

चुकी थी। अधिकतर समय तो पलंग पर लेटे-लेटे ही व्यतीत होता था। लेटे-लेटे ही अपने उपयोग को अपने शुद्धात्मा के अनुभव में जोड़ने का प्रयत्न करते रहते थे। कमजोरी के कारण से बहुत ही कम बोलना हो पाता था। कभी-कभी विकल्प आने पर अपने मित्रों को स्वाध्याय सुनाने के लिए इशारा कर देते। कभी उन्हें स्वाध्याय सुनाया जाता तो कभी बारह भावना के संगीतमय कैसेट तो कभी आध्यात्मिक टेप प्रवचन। कभी-कभी मित्रजन उन्हें स्वयं ही पुरुषार्थ प्रेरक, चित्त को स्थिर करनेवाला, परिणामों को निर्मल करनेवाला उपदेश सुना देते।

आज पाँचवें दिन पण्डितजी की शारीरिक तकलीफ कुछ ज्यादा ही बढ़ गयी। अंग-अंग में तीव्र पीड़ा होने लगी। यद्यपि आज के दिन भी पण्डितजी ने एकादश का ही व्रत ले लिया था; तथापि एक बार भी भोजन न ले सके। थोड़ा-सा दूध ही ग्रहण कर पाये। अपनी इस पर्याय का अन्त एकदम निकट जानकर मन ही मन पण्डितजी ने सदा-सदा के लिए भोजनत्याग (अन्नत्याग) की प्रतिज्ञा कर ली।

आज शारीरिक वेदना के कारण बेचैनी बहुत बढ़ गयी थी। पण्डितजी अपने उपयोग को रह-रहकर अपने शुद्धात्मा से जोड़ने का भरसक प्रयत्न करते थे, पर वेदना के कारण से सफलता नहीं मिल पा रही थी। उग्र पुरुषार्थ के द्वारा आखिर इन्होंने अपने उपयोग को अपने शुद्धात्मा के अनुभव में जोड़ ही लिया। फलस्वरूप शारीरिक वेदना कुछ कम हो गयी। शारीरिक वेदना से बचने के लिए उन्होंने अपने उपयोग को काफी एकाग्रतापूर्वक शुद्धात्मा में लीन करना प्रारंभ कर दिया, फलस्वरूप अन्दर का आनन्द बढ़ता गया। शारीरिक वेदना कम होती चली गयी। पुरुषार्थ की कमजोरी से उपयोग जब

बाहर निकलता तो शारीरिक वेदना का पुनः अनुभव होने लगता। उस वेदना से उपयोग को हटाने के लिए पण्डितजी पुनः तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा अपने उपयोग को शुद्धात्मा में तल्लीन करने लगते। इसी क्रमपूर्वक पाँचवें दिन की पूरी रात व्यतीत हुई।

छठवें दिन की सुबह होते-होते शारीरिक दर्द भी अपने आप दब गया। फलस्वरूप पण्डितजी ने थोड़ा दूध लिया। स्वाध्याय सुनने की इच्छा जाहिर की, फिर अपने मन को समझाने लगे – "अनादिकाल से लेकर अबतक अनन्त वस्तुओं का भक्षण किया, फिर भी यह भूख शान्त नहीं हुई। क्या-क्या नहीं खाया? सब कुछ खाया। नरकों में भूख की इतनी अपार वेदना सहन की। तब उस भूख के आगे इस तुच्छ भूख की क्या चिन्ता? धिक्कार है जो खाने की इच्छा उत्पन्न हुई।" इसीप्रकार सोचते-सोचते वे मन ही मन बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे और इसके साथ ही साथ दूध का भी सदा-सदा के लिए त्याग कर दिया। शुद्धात्मा का चिन्तन करने लगे। उपयोग शुद्धात्मा में ही ढल गया। ज्ञान मात्र आत्मस्वरूप का आस्वादन होने लगा, फलस्वरूप क्षुधा जनित वेदना नष्ट हो गयी। शाम होते-होते शारीरिक तकलीफ पुनः पैदा हो गयी। भयंकर दर्द होने लगा। असह्य वेदना के कारण से कराहने लगे। अंग-अंग में तीव्र वेदना होने लगी। वेदना के मारे कुछ भी सुध न रही। छटपटाने लगे। परिणामों में बेचैनी बढ़ गयी। ऐसी विषम परिस्थितियों में मित्रों ने उपदेशामृत का पान कराना शुरू किया। वे कोमल शब्दों में कहने लगे – हे आत्मन! तुम्हें ऐसा कौनसा दुःख है? यह तो मृत्यु का महोत्सव है। यह तो धैर्य एवं दृढ़ता धारण करने का अवसर आया है, शोक एवं दुःख का नहीं; बल्कि हर्ष एवं खुशी का अवसर

आया है। पूर्व में बड़े-बड़े ज्ञानियों एवं मुनियों पर भयंकर उपसर्ग आये; फिर भी वे आत्म-साधना से विचलित नहीं हुए, बेचैन नहीं हुए, परिणामों को चंचल नहीं होने दिया। जरा याद करो तो सुकोशल, गजकुमार, सुकुमाल आदि मुनिराजों को। उनकी वेदना के आगे तुम्हारी क्या वेदना है? तुम्हारी सेवा करने के लिए तो हम तैयार खड़े हैं, पर अज्ञात उदय को कौन टाल सकता है।

अरे आत्मन्! अरे ज्ञायक! जरा सोचो तो तुम्हारे ज्ञान में इस कष्ट ने प्रवेश ही कहाँ किया है? तुम्हारे ज्ञान की स्वच्छता ही कुछ ऐसी है कि जिसमें वेदना स्पष्टरूप से झलकती है। पर वो वेदना तुममें कहाँ है? तुम तो ज्ञान हो। ज्ञानस्वरूप ज्ञायक भगवान आत्मा हो। अपने ज्ञान को उस ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा में ही लगाओ। कष्ट तो कष्ट में ही है। कष्ट ज्ञान में कहाँ है? तुम्हारे ज्ञान में तो ज्ञान ही है।

उक्त प्रकार का उपदेशामृत का निमित्त पाकर पण्डितजी का चित्त पुनः स्थिर हो गया। परिणामों में अद्भुत शान्ति एवं दृढ़ता प्रगट हो गयी। न सिर्फ धैर्य ही प्रगट हुआ; बल्कि उनका ज्ञानोपयोग भी अपने शुद्धात्मतत्त्व को पकड़ता हुआ उसमें ढल गया। उनका ज्ञान कष्ट को पृथक् जानता हुआ उससे पृथक् होकर ज्ञायक में तन्मय हो गया। उग्र पुरुषार्थ के द्वारा अपने उपयोग को अपने ही शुद्धात्मतत्त्व में समाधिस्थ करते हुए पण्डितजी इस देह को छोड़कर परलोक में गमन कर गये।

पण्डितजी की अन्तिम यात्रा में सम्मिलित हुए लोगों ने इस आदर्श मृत्यु-महोत्सव से प्रेरणा लेकर मन ही मन संकल्प किया कि हम भी अपने जीवन में ऐसे विचित्र महोत्सव का आयोजन अवश्य करेंगे। ●

चित्र-विचित्र गजब की दुनिया

चित्र-विचित्रताओं से भरी इस दुनिया में दार्शनिक भी बड़े विचित्र स्वभाव के होते हैं।

कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं कि दीवार पर चिपके हुए गोबर के कंडे को देखकर घंटों यह सोचते रहते हैं कि किसी गाय अथवा भैंस ने इस पर गोबर किया होगा तो कुछ ऐसे होते हैं कि – सड़क पर पड़े हुए गोबर को काफी देर तक घूरते रहने के बाद संदेह की दृष्टि से देखते हैं कि यार! यह, गोबर ही है या कुछ और? और फिर थोड़ा सा अपनी अंगुली पर लेकर सूंघ लेने के पश्चात् ही तसल्ली करते हैं कि वास्तव में यह गोबर ही है और फिर बड़े इत्मिनान की साँस लेते हैं कि चलो अच्छा हुआ इसे सूंघ कर देख ही लिया, वरना कहीं इस पर मेरा पैर पड़ गया होता तो गंदा हो जाता।

सर्वदर्शनाचार्य प्रोफेसर प्यारेलालजी भी कुछ कम विचित्र स्वभाव के नहीं थे। अपने पास में आये हुए किसी व्यक्ति से काफी समय तक बातें करते रहने के बाद उस व्यक्ति को वापस जाते हुए देखकर स्वयं ही अपनेआप से प्रश्न पूछते हैं कि यार! यह जो जा रहा है वह कौन है ? और फिर स्वयं ही अगले पल बड़बड़ाते हैं – अच्छा! अच्छा!! ये तो वही है जो अभी-अभी मेरे से बातें कर रहा था।

ऐसे ही कहीं जाना होता तो अपने घर के सभी दरवाजों को अच्छी तरह से बंद करते। बत्तियों एवं पंखों के सभी बटनों को ऑफ (बन्द) करते और फिर ताला लगा कर चल पड़ते।

थोड़ी देर तक चलने के बाद संदेहित होते। अरे! कहीं ताला लगाना तो नहीं भूल गया। पुनः वापस लौटते। देखते – ताला तो लगा हुआ है। वापस रवाना होते। कुछ दूरी तक जाते,

फिर संदेह खड़ा करते – अरे! कहीं पिछवाड़े का दरवाजा खुला तो नहीं रह गया। कहीं बत्तियाँ तो चालू नहीं रह गयीं। वापस लौटते। फिर से ताला खोलकर सबकुछ चैक करते और पूरी तरह से संतुष्ट होने के बाद ही कहीं चल पाते।

ऐसा होने पर भी वे एक दार्शनिक थे। अगाध बुद्धि के धनी थे। सभी दर्शनों पर उनका अधिकार था। कौन दर्शन किस सम्बन्ध में क्या कहता है? इस बात को वे पल भर में ही बता सकते थे। प्रोफेसर होने के नाते बच्चों को तो वे पढ़ाते ही थे, घन्टों व्याख्यान भी कर सकते थे।

एक दिन वे अपने नये मित्र के साथ चित्र-प्रदर्शनी को देखने गये। चित्रकार चित्र-विचित्र चित्रों को उकेर कर लाये थे। किसी ने पहाड़ को उकेरा था तो किसी ने पठार को। किसी ने हँसती-खिलखिलाती दुनियाँ को उकेरा था तो किसी ने रोती -बिलखती दुनियाँ को। किसी ने अपने चित्र में लूले-लंगड़े को उबारा था तो किसी ने हट्टे-कट्टे पहलवान को। किसी ने स्वर्ग को उकेरा था तो किसी ने नरक को। किसी ने मनुष्य जगत को तो किसी ने पशु जगत को। किसी ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीट जगत को अपने चित्रों का विषय बनाया था तो किसी ने विशालकाय पशु जगत को अपने चित्रों का विषय बनाया था। किसी ने पाषाण युग को उकेरा तो किसी ने कम्प्यूटर जगत को।

प्रदर्शनी देख चुकने के पश्चात् प्रदर्शनी कक्ष से बाहर निकलते हुए प्रोफेसर प्यारेलालजी अपने मित्र से बोले –

"क्या गज़ब की दुनिया है भई! देखो तो सही। परमेश्वर की लीला भी बड़ी विचित्र है। कैसी-कैसी वस्तुओं को बनाया है उसने।"

"यदि इन सब वस्तुओं को परमेश्वर ने बनाया है तो फिर परमेश्वर को किसने बनाया यह तो बताओ ? यदि कहोगे कि परमेश्वर तो स्वयंसिद्ध है तो फिर इन सभी वस्तुओं को भी

स्वयंसिद्ध अनादिनिधन मान लेने में क्या आपत्ती है? इनको बनाने का भार व्यर्थ में परमेश्वर के माथे पर क्यों डालते हो? क्या परमेश्वर रागी-द्वेषी है जो इनको बनाने और फिर नष्ट करने लगा?" नये मित्र परमेश्वरदास ने पूछा।

"अरे हाँ जैनदर्शन का यही कहना है। परमेश्वर कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता है – ये हिन्दूदर्शन का कहना है। बौद्धदर्शन क्षणिकवादी है। चार्वाक नास्तिक है। कौन दर्शन क्या कहता है, यह सब मैं अच्छी तरह से जानता हूँ।" प्रोफेसर प्यारेलालजी रौब झाड़ते हुए गर्व के साथ बोले–

"कौन दर्शन क्या कहता है ? सिर्फ इतना जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। महत्त्व तो ऐसा निर्णय करने में है कि कौन सा दर्शन वस्तुस्वरूप के अनुकूल है, निकट है। इस बात का निर्णय किये बिना कभी भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।"

"परमेश्वरदासजी ने कहा – अरे भई, इन दर्शनों के झंझट में हमें नहीं पड़ना। हमारे लिये तो हमारा कुलधर्म ही ठीक है। हमारे धर्म में तो परमेश्वर को और देवी-देवताओं को ही जगत का कर्त्ता-धर्त्ता और हमारे भले-बुरे का कर्त्ता-धर्त्ता माना गया हैं; इसलिये हमारे लिये तो ये ही आराध्य हैं।"

"अरे वाह, ये भी कोई बात हुई। ज्ञान की इतनी निधि तुम्हारे पास होते हुए भी तुम ऐसी बातें करते हों। यथार्थ वस्तुस्वरूप का, सात तत्त्वों का, देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ निर्णय करना यह कोई झंझट का कार्य नहीं है; बल्कि झंझट को दूर करने का कार्य है। अच्छा यह बताओ कि निर्णय कर लेने में तकलीफ क्या है। क्या ज्ञान में घिसावट आ जायेगी?"

परमेश्वरदासजी ने कहा –

"क्यों व्यर्थ में दिमाग खपाना। अपन तो सिर्फ इतन जानते हैं कि ऊपरवाले कीं कृपा से सब ठीक हो जायेगा।'

"लेकिन यह निर्णय करना भी तो जरूरी है कि ऐसा कोई ऊपरवाला है भी या नहीं, जिसकी कृपा से कुछ होता हो?"

"कोई फायदा नहीं।" अबकी बार प्यारेलालजी ने दो टूक जवाब दिया।

परमेश्वरदासजी ने अब कुछ कहना उचित नहीं समझा; पर मन ही मन सोचने लगे – "क्या गज़ब है। कैसा विचित्र ज्ञान है। सबकुछ जानने के लिये तैयार है; परन्तु हितकारी ऐसी अत्यन्त प्रयोजनभूत बात के सम्बन्ध में कुछ निर्णय करने को तैयार ही नहीं। वास्तव में यह श्रद्धान का ही दोष है जो ज्ञान को प्रयोजनभूत बात के सम्बन्ध में निर्णय करने ही नहीं देता। कैसा-कैसा ज्ञान और कैसे-कैसे विचित्र ज्ञानी? कैसा-कैसा श्रद्धान और कैसे-कैसे श्रद्धानी?"

छोटे-छोटे शेष बालों से भिन्न अपनी पतली एवं छोटी सी चोटी को मरोड़ते हुए अपने ही घर में पूजा के स्थान पर जा बैठे प्रोफेसर प्यारेलालजी अपने इष्टदेवता की आरती उतारने लगे। एक हाथ से छोटी सी घण्टी को भी हिलाते जा रहे थे। आरती का भावार्थ इतना ही था कि हे परमेश्वर! सब तेरी कृपा का ही फल है। तू मेरी भी रक्षा करना। मुझे भी सुखी करना। और फिर मस्तक पर तिलक लगाते हुए चल दिये रसोई घर की तरफ भोजन करने के लिये।

ये वही प्रोफेसर प्यारेलालजी थे जो कॉलेज में विद्यार्थियों को जैनदर्शन के सम्बन्ध में पढ़ाते वक्त बड़े ही डंके की चोट कहा करते थे कि – अकर्त्तावादी इस दर्शन के अकाट्य तर्कों के आगे यह बात अपने-आप सिद्ध हो जाती है कि वास्तव में इस जगत का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता कोई परमेश्वर नहीं है; बल्कि एक स्वचालित व्यवस्था के अंतर्गत ही प्राणियों को सुख एवं दुःख मिलते रहते हैं। "उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" यह एक

इस दर्शन का प्रमुख सूत्र है। इसके अनुसार विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है तथा अपने आप में स्वतन्त्र है। ध्रौव्यपने के कारण अनादि-अनन्त है तथा उत्पाद-व्यय पने के कारण परिणमनशील है।

"भोजन कर चुकने के पश्चात् प्यारेलालजी देवी मंदिर को चल दिये। रात्रि में धार्मिक कार्यक्रम होनेवाला था, जिसकी तैयारी उन्हें करनी थी। मंदिर के प्रांगण में मंडप बनाया जा रहा था। प्यारेलालजी भी उसी की सजावट में जुट गये। एक स्टूल पर चढ़कर मंडप में गुलदस्ते लटका रहे थे कि तभी कहीं से एक भैंस दौड़ती हुई आयी। भैंस के गले में बन्धी हुई रस्सी के साथ-साथ स्टूल भी खिंचता चला गया और प्यारेलालजी धम से जमीन पर आ गिरे। वे जमीन पर

क्या आ गिरे; बल्कि यूँ कहो कि उनके श्रद्धान के टुकड़े-टुकड़े हो गये। अपने कपड़ों को झाड़ते हुए और शर्मिन्दगी को महसूस करते हुए वे उठ खड़े हुए। पैर में हल्की मोच आ गयी सो लंगड़ाते हुए घर पहुँचे और पलंग पर जाकर लेट गये। सोचने लगे यह कैसी देवी है जो मेरी इतनी भी रक्षा न कर सकी। स्वयं के सामने ही स्वयं के भक्त की इतनी दुर्दशा?

प्राणियों का सुख-दुःख क्या वास्तव में देवी-देवताओं के हाथों में नहीं है? इस घटना से लगता तो ऐसा ही है। प्राणियों को अपने किये हुए अच्छे अथवा बुरे कर्मों का फल भुगतना ही पड़ता है, तब फिर परमेश्वर का क्या कर्त्तव्य ठहरा? ऐसा लगता है कि कर्म करने के लिये भी सब स्वतन्त्र हैं और उसका फल भुगतने के लिये भी सब स्वतन्त्र ही हैं। जैनदर्शन की बातों में काफी दम नजर आता है।"

एक दिन समाचार पत्र में उन्होंने एक समाचार पढ़ा। लिखा था – "मंदिर में चोरी। चोर देवी प्रतिमा के ऊपर चढ़ाये गये आभूषण एवं कीमती छत्र, नगदी आदि चुरा ले गये। प्रतिमा को भी खंडित कर गये।"

"समाचार पढ़कर प्यारेलालजी विचार में पड़ गये – मंदिर में चोरी हो गयी फिर देवी-देवता कहाँ सोये रहे? क्या उन्हें पता ही नहीं चला? तो क्या वे अल्पज्ञ हैं? यदि पता चला तो फिर चोरों को चोरी करने से रोका क्यों नहीं और उन्हें दंडित क्यों नहीं किया? क्या परमेश्वर शक्तिहीन हैं, जो ऐसा कर नहीं सका?

यदि यहाँ पर प्राणी सभी अच्छे एवं बुरे कार्य परमेश्वर की प्रेरणा से ही करते हैं तो फिर इन कर्मों की सजा या फल भी परमेश्वर को ही मिलना चाहिये। निर्दोष प्राणियों को ही व्यर्थ में सुख-दुःख क्यों? प्राणी ही यहाँ पर सुखी अथवा दुःखी होते देखे जाते हैं ऐसी विडम्बना क्यों?

यदि किसी परमेश्वर ने ही इस विश्व को बनाया है तो फिर सभी प्राणियों को एक जैसा ही क्यों नहीं बनाया? किसी को मनुष्य और किसी को पशु, ऐसा क्यों किया? किसी को दयालु धर्मात्मा और परोपकारी और किसी को पापी-दुराचारी हिंसक बनाया। ऐसा क्यों किया?

सब स्वतन्त्र है। कोई भी किसी परमेश्वर के आधीन नहीं है। यहाँ पर सभी प्राणी स्वयं अपने आप को संचालित करते हुए स्पष्टरूप से अनुभव में आ रहे हैं। परमेश्वर की प्रेरणा से कहीं भी कुछ होता हुआ दिखाई ही नहीं दे रहा; अतः परमेश्वर को कर्त्ता-धर्त्ता मानना व्यर्थ ही है। अपने सुख व दुःख के लिये सभी स्वयं ही जिम्मेवार हैं।"

धीरे-धीरे प्यारेलालजी की कर्त्तावाद के प्रति आस्था जाती रही और उनकी अकर्त्तावाद की आस्था प्रबल होने लगी। अकर्त्तावादी जैनदर्शन के अध्यात्म ग्रन्थों के अध्ययन के प्रति उनकी रुचि बढ़ने लगी। समयसार पढ़ा, नियमसार पढ़ा, मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रवचनरत्नाकर आदि न जाने कितने ही ग्रन्थ पढ़े और वे मालामाल हो गये। अणु-अणु की स्वतन्त्रता उनके ख्याल में आने लगी। रंग, राग और भेद के विकल्पों से भी भिन्न मैं स्वयं अखंड अभेद परमात्मा हूँ – यह बात उनकी समझ में अच्छी तरह से आ गयी। उनका हुलिया ही बदल गया।

प्यारेलालजी को अब दुःख इस बात का होता था कि जैनकुल में ही उत्पन्न होकर के भी कितने ही जैन ऐसे हैं जो देवी-देवताओं को और तीर्थंकरों को ही कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता समझ रहे हैं। बजाय उन तीर्थंकरों को वीतराग और सर्वज्ञ, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा समझने के।

"तो तुम निमित्त से कार्य होना मानते हो?"

प्यारेलालजी ने एक दिन एक जैनबन्धु से पूछा।

"बेशक! इसमें क्या सन्देह है? क्या बिना गुरु के अपने आप ही ज्ञान हो जाता है?" उस जैन ने उलटा प्रश्न झाड़ा।

प्यारेलाल ने कहा – "गुरु तो निमित्तमात्र है। अच्छा यह बताओ कि जो समझता है वह स्वयं की योग्यता से समझता है या गुरु से? यदि गुरु से समझता है तो सभी क्यों नहीं समझ

जाते गुरु तो सभी को पढ़ाते हैं? और यदि स्वयं की योग्यता से समझता है तो फिर गुरु ने क्या किया? गुरु तो सिर्फ समझाने रूप अपने परिणामों का ही कर्त्ता है – ऐसी स्वतन्त्रता को तुम स्वीकार क्यों नहीं करते। क्या तुम नहीं जानते, समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार में स्वतन्त्रता का उद्घोष हुआ है। गुरु से (निमित्त) ज्ञान होता है ऐसा मानने में क्या स्वतन्त्रता खण्डित नहीं होती? ईश्वर को कर्त्ता-धर्त्ता मानना और निमित्त को कर्त्ता मानना दोनों में ही पराधीनता की स्वीकृति है। पराधीन दृष्टिवाला कभी भी स्वाधीन नहीं हो सकता समझे।"

जैनबन्धु ने कहा – "गुरु से ज्ञान नहीं होता तो फिर तुम हमें समझाने क्यों आये? बैठे रहते न अपने घर। व्यर्थ में हमारे गुरु क्यों बनते हो?"

उसका तर्क सुनकर प्यारेलालजी भौचक्के रह गये। फिर भी बोले-

"तुम हमारी बात स्वयं ही समझकर स्वीकार कर लोगे तभी तो हम पर निमित्तपने का और गुरुपने का आरोप आयेगा समझाने से ही समझ होती तो तुम भी हमारी बात समझ नहीं लेते? हम जो समझाने आये वह तो रागजनित कमजोरी है।"

"हम तो इतना जानते हैं कि गुरु बिना ज्ञान नहीं। गुरु की शरण में आ जाओ सब ठीक हो जायेगा।" जैनबन्धु ने फिर वही रट लगायी तो प्यारेलालजी ने अब कुछ भी कहना उचित नहीं समझा। वे सोचने लगे –

दो नयों के आधार से जिसके सम्बन्ध में सारा ज्ञान और कथन होता है; इसीलिए तो इसका नाम अर्थात् दुनिया-दुनिया है ऐसी चित्र-विचित्र गज़ब की दुनिया में लोग भी बड़े गज़ब के होते हैं। अज़ब-गज़ब के उनके तर्क और अज़ब-गज़ब की उनकी मान्यतायें; पर क्या करें? सभी कुछ तो यहाँ स्वतन्त्र है। और इसी सोच के साथ वे अपने अन्य कार्यों में व्यस्त हो गये। ●

प्रोफेसर की डायरी

व्यक्ति के जीवन की कितनी ही रातें तो ऐसी होती हैं, जिनमें आराम के साथ उसे नींद आ जाती है। चाहे बिछौना कितना भी कठोर क्यों न हो; पर कुछ रातें ऐसी भी होती हैं, जिनमें व्यक्ति की नींद हराम हो जाती है, चाहे वह व्यक्ति मखमल से मुलायम गद्दे पर भी क्यों न लेटा हो?

ऐसी ही कुछ स्थिति आज बूढ़े प्रोफेसर अनुभवसहायजी की हो रही थी। वे सोने का बहुत-बहुत प्रयत्न कर रहे थे, पर ऐसा लग रहा था कि उनकी नींद उनसे कोसों दूर चली गई हो। यह बात भी नहीं थी कि खटमलों अथवा मच्छरों ने उनको परेशान कर रखा हो। दरअसल बात तो यह थी कि उनको इस समय अपने घनिष्ठ मित्र आतमप्रकाश के अनायास वियोग का दुःख सता रहा था। अभी-अभी तीन दिन पूर्व ही आतमप्रकाश की अनायास मृत्यु हो गयी थी। मृत्यु से पूर्व तो आतमप्रकाश अच्छे-भले चंगे थे।

यद्यपि आतमप्रकाशजी उम्र में अनुभवसहायजी से सात वर्ष छोटे थे, पर वैचारिक समानता के कारण दोनों में कई वर्षों से घनिष्ठ मित्रता थी। अनुभवसहायजी की तो अबतक यही धारणा बनी हुई थी कि इस पर्याय से (दुनिया से) पहले मैं उठूँगा फिर आतमप्रकाश। और इसलिए वे अक्सर आतमप्रकाश से कहा करते – "यार! मेरे जीवन का अब कुछ भरोसा है नहीं। उम्र काफी हो गयी है। अन्तिम समय में ऐसा कुछ हो जाय तो तुम सँभालना। परिणाम धर्म से डिग जायें तो तुम पुनः धर्म में दृढ़ता करवाना।"

पर यहाँ तो बात उल्टी ही साबित हुई और इन्हीं सब विषम परिस्थितियों के कारण आज अनुभवसहायजी की नींद

उड़ चुकी थी। रह-रहकर मित्र की याद ताजी हो आती थी। चित्त काफी उदास हो गया था। इस समय संसार उन्हें सांक्षात् निस्सार एवं दुःखों का घर नजर आ रहा था। इतना दुःख तो उन्हें अपनी पत्नी के वियोग के अवसर पर भी नहीं हुआ था तथा बच्चे तो उनके थे ही नहीं।

बहुत कोशिश करने के बाद भी जब नींद नहीं आयी तो वे पलंग से उठ खड़े हुए। चलते हुए बिजली के स्विच तक गये और स्विच ऑन कर दिया। ट्यूबलाइट के प्रकाश से कमरा जगमगा उठा। उन्होंने अपनी घड़ी में देखा, इस समय रात्रि का एक बज रहा था। वे टेबल पर पड़े हुए चश्मे को पहनते हुए कुर्सी पर बैठ गये। टेबल पर पड़ी हुई पुस्तकों को अपनी अंगुली से हल्का-हल्का थप-थपाते हुए कुछ सोचने में व्यस्त हो गये। पास में ही दायीं ओर पुस्तकों से भरी हुई एक अल्मारी थी।

70 वर्ष के बूढ़े प्रोफेसर अनुभवसहाय के चेहरे को देखकर आसानी से अनुमान लगाया जा सकता था कि वे दुनिया के विशेष अनुभवी पुरुष हैं। उनकी आँखों में एक विशेषप्रकार की चमक झलकती रहती थी। उनके सिर का आगे का भाग कुछ गंजा था तथा पिछला भाग सफेद बालों से ढका था। गौर-वर्ण के प्रोफेसर कुछ देर तक यूँ ही सोचते रहे, फिर अचानक एक झटके के साथ अपने हाथों को आगे बढ़ाते हुए पास रखी अल्मारी में से कुछ पुस्तकों को टटोलने लगे। एक पुस्तक निकालकर टेबल पर रख ली। यह कोई पुस्तक नहीं; बल्कि एक डायरी थी; जिस पर गहरे नीले रंग का प्लास्टिक कॅवर चढ़ा हुआ था।

इस डायरी के पन्नों को प्रोफेसर अनुभवसहाय कुछ देर तक तो यूँ ही इधर-उधर पलटते रहे, फिर अन्दाज से यूँ ही

एक पेज खोलकर उसे पढ़ने लगे। उनके अपने ही हाथ का वहाँ लिखा हुआ था –

"25 मई, 1929 (मंगलवार) सिगरेट पीने का और तम्बाकू का गुटका खाने का चस्का मुझे पिछले कुछ दिनों से लग चुका है, इसी आदत से मजबूर होकर मैं एक दुकान पर खड़े-खड़े सिगरेट पी रहा था और तम्बाकू का गुटका तैयार करवा रहा था कि अचानक मेरे भाईसाहब वहाँ आ पहुँचे।

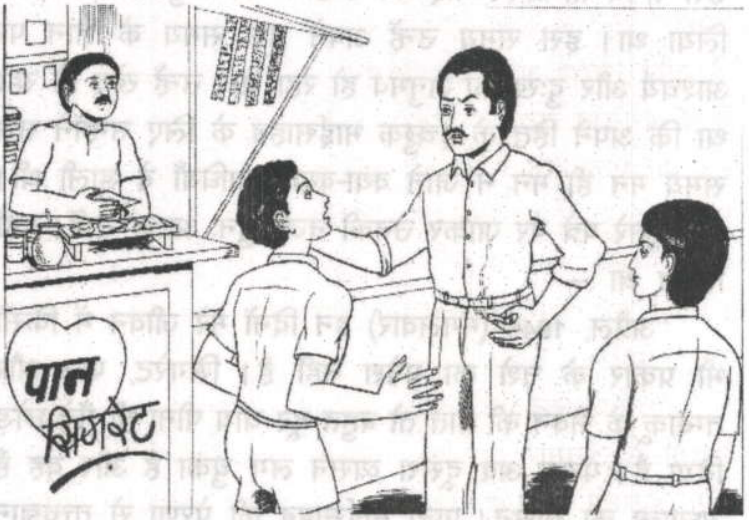

उन्होंने जलती हुई सिगरेट छीनकर मेरे दाहिने हाथ पर दाग दी। मैं पीड़ा के मारे कराह उठा। फिर भी भाई साहब को जरा भी दया नहीं आयी। मेरी बहुत पिटाई की। सबके सामने पीटते-पीटते मुझे अपने घर ले गये और अन्त में धमकी देते हुए बोले – याद रक्खो, जो अब कभी सिगरेट एवं तम्बाकू का सेवन किया तो घर में पैर नहीं रखने दूँगा, जान से मार डालूँगा। मैं तुम्हारी पूरी निगरानी रक्खूँगा।

सिगरेट पीने की इच्छा तो आज भी बहुत हो रही है, पर

भाईसाहब के डर से हिम्मत नहीं हो रही है।" – **अनुभवसहाय**

प्रोफेसर ने ज्यों ही वह पन्ना पढ़ा, त्यों ही उक्त घटना उनकी याददास्त में उभर आयी। उन्हें अच्छी तरह से याद हो आया कि जब सिगरेट को लेकर उनके भाई ने उनको पीटा था, तब उनके हृदय में अपने भाई के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी थी। मन ही मन भाईसाहब को हजारों बार कोसा था। उस समय तो अपने भाई को उन्होंने अपना दुश्मन ही समझ लिया था। इस समय उन्हें अपने उस समय के ज्ञान पर आश्चर्य और दुःख का अनुभव हो रहा था। उन्हें खेद हो रहा था कि अपने हित के इच्छुक भाईसाहब के लिए उन्होंने उस समय मन ही मन न जाने क्या-क्या उपाधियाँ दे डाली थीं।

दूसरे पन्ने पर जाकर उनकी नजरें पुनः अटक गयीं। वहाँ लिखा था –

"अप्रैल, 1948 (मंगलवार) इन दिनों मेरे जीवन में किसी भी प्रकार के नशे का प्रवेश नहीं है। सिगरेट, पान और तम्बाकू के सेवन की बात तो बहुत दूर चाय पीना भी मैंने छोड़ दिया है। परन्तु अब दूसरा व्यसन लग चुका है और वह है अध्यात्म का व्यसन। पूज्य भाईसाहब की प्रेरणा से तत्त्वज्ञान और अध्यात्म के प्रति अपार लगन लग चुकी है। अध्यात्मरस के बल से ही आलू, प्याज, लहसन आदि अभक्ष्य वस्तुओं के भक्षण का और रात्रि भोजन का त्याग सहजरूप से ही हो गया है। तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल से मेरे चित्त में यह बात गहराई से प्रवेश कर गयी है कि अणु-अणु का परिणमन स्वतंत्र है। इस जगत का कर्त्ता-धर्त्ता कोई परमेश्वर नहीं है। अपने सुख व दुःख का जिम्मेवार स्वयं ही है। अलिप्तभाव से ज्ञाता-दृष्टा बने रहने में ही सार है।" – **अनुभवसहाय**

उक्त तहरीर को पढ़ते ही प्रोफेसर जैन पुनः अपनी पिछली

दुनिया में गोते लगाने लगे। उन्हें अच्छी तरह से याद हो आया कि अपने पूज्य भाईसाहब की सतत् प्रेरणा के कारण से ही तत्त्वज्ञान और अध्यात्म के प्रति उनकी रुचि जाग्रत हो सकी थी। अपने भाईसाहब के प्रति अपार श्रद्धा से उनका मन भर आया जो कि अध्यात्म की चरमसाधना के लिए घरबार छोड़कर दिगम्बर साधु होकर जंगल में तपश्चर्या के लिए चले गये थे। कुछ देर सोचते रहने के बाद प्रोफेसर अनुभवसहाय डायरी के पन्ने पुनः पीछे की ओर धीरे-धीरे पलटने लगे। एक पन्ने पर जाकर पुनः रुक गये और वहाँ लिखी हुई लिखावट पढ़ने लगे –

"4 मई, 1928 (शनिवार) भगवान की परम कृपा से आज खीर एवं पूड़ी खाने को मिले। आज का सारा दिन खेलने एवं घूमने-फिरने में ही व्यतीत हुआ। आज के दिन का मौसम भी काफी सुहावना रहा। आसमान में हल्के-हल्के बादल छाये रहे तथा सारे दिन ठंडी-ठंडी हवा चलती रही। ऐसे खुशगवार मौसम के लिए मैंने भगवान को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया और सदा ही ऐसा ही सुहावना मौसम बनाये रखने की भगवान से विनती की।" **– अनुभवसहाय**

प्रोफेसर अनुभवसहाय को सहसा इस बात का विश्वास नहीं हो रहा था कि उक्त बात उन्हीं की लिखी हुई है। वे विचार करने लगे कि इस समय और उस समय की मेरी मान्यता में कितना भारी अन्तर है। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस समय तो वे भी भगवान को ही कर्त्ता-धर्त्ता समझ रहे थे। उन्हें अपने उन दिनों की याद ताजी हो आयी, जिन दिनों में खीर और पूड़ी जैसे भोजन का प्राप्त हो जाना महान भाग्य का उदय समझा जाता था। उन दिनों तो वे अपने स्वर्गीय माता-पिता और बड़े भैया के साथ एक झोंपड़ेनुमा कच्चे से

मकान में रहते थे और उनका जीवन बड़े ही अभावों में व्यतीत होता था, उन्हें अच्छी तरह से याद हो आया कि उन दिनों वे लगभग 19 वर्ष की उम्र के थे। और उन्हीं दिनों में एक अध्यापक की प्रेरणा से उन्होंने डायरी लिखना प्रारंभ किया था। वे विचारने लगे – कहाँ तो उस समय का वह कच्चा झोंपड़ा और कहाँ यह इतना आलीशान बंगला! कितना अन्तर है दोनों में? सहसा उन्हें याद हो आया कि वह झोंपड़ा तो यहाँ इसी जगह पर बना हुआ था। पर उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि यह वही जगह है जहाँ पर कभी वह टूटा-फूटा झोंपड़ा था, जिसमें वे रहते थे। स्थान तो वही, पर परिस्थितियों में कितना बदलाव।

प्रोफेसर अनुभवसहायजी कुछ देर तक तो बैठे-बैठे ऐसे ही सोचते रहे, फिर डायरी को खुली की खुली उल्टी घुमाकर टेबल पर रखते हुए अल्मारी में से कोई नई पुस्तक खोजने लगे। एक पुस्तक निकाली, पर यह भी कोई पुस्तक नहीं थी; बल्कि एक डायरी ही थी, जिस पर गहरे कत्थई रंग का प्लास्टिक कॅवर चढ़ा हुआ था। तथा जिसके बीचों-बीच सफेद रंग की एक चिट लगी हुई थी, जिसके ऊपर लिखा था – 'जीवन के खास अनुभव'

अब प्रोफेसर साहब इस नयी डायरी के पन्ने भी इधर-उधर पलटने लगे। डायरी जहाँ तक भरी हुई थी वह अन्तिम पृष्ठ खोलकर कुछ देर तक बैठे सोचते रहे, फिर टेबल पर से कलम उठाकर वहाँ से आगे अपने अनुभव की बात लिखने लगे –

"15 मई, 1989 (सोमवार) प्राणी के लिए सबसे खतरनाक यदि कोई है तो वह उसका अपना अज्ञान ही है। यदि किसी की अज्ञानदशा का ही विचार करना है तो स्वयं की ही अज्ञानदशा का विचार करना चाहिये। दूसरों के अज्ञान को

देख-देखकर हास्य करना अथवा क्लेशित होना किसी भी तरह से उचित नहीं है। यदि अपनी ही पूर्व की अज्ञानदशा का विचार किया जाये तो लोगों में पाया जानेवाला अज्ञान स्वाभाविक ही लगता है। इसमें आश्चर्य, खेद अथवा हास्य को कोई स्थान नहीं है। स्वयं की ही कहीं पुनः अज्ञानदशा न हो जाये - ऐसा प्रयत्न अथवा भावना सदैव करने योग्य है।"

इतना लिखने के बाद प्रोफेसर साहब ने कलम पुनः टेबल के ऊपर रख दी तथा नीले कॅवर वाली डायरी उठाकर पुनः उसके पन्ने इधर-उधर पलटने लगे। एक पृष्ठ पर जाकर पुनः उनकी नजर केन्द्रित हो गयी और वहाँ लिखा हुआ पढ़ने लगे –

"4 अक्टूबर 1942 (रविवार); अभी पन्द्रह रोज पूर्व शुक्रवार को आतमप्रकाश के साथ भारी झगड़ा हो गया। आपस में मारपीट हो गयी। मुझे चोटें ज्यादा आयी हैं। मामला कचहरी तक पहुँच चुका है। चोटें तो उसको भी लगीं....."

उक्त लिखावट को पढ़ते ही प्रोफेसर अनुभवसहायजी एकबार पुनः चौंक उठे। उन्हें विश्वास ही नहीं हो पा रहा था कि जिस आतमप्रकाश के वियोग में आज उन्हें नींद नहीं आ पा रही है, उसी आतमप्रकाश के साथ पूर्व में इतना भारी झगड़ा हो चुका है। कहाँ तो एक-दूसरे की जान के कट्टर दुश्मन और कहाँ एक-दूसरे के बिना चैन नहीं। और उसके साथ ही उनके मस्तिष्क में पूर्व में आतमप्रकाश के साथ हुए झगड़े का दृश्य तेजी के साथ घूम गया। गुस्से में आकर आतमप्रकाश ने उनको पत्थर दे मारा था, जिसके कारण उनका एक हाथ लहुलुहान हो गया था तथा उन्होंने आतमप्रकाश का एक हाथ पकड़कर तेजी से मरोड़ दिया था, जिसके कारण उसके हाथ की हड्डी उतर गयी थी। उन्हें याद आया कि झगड़े का कारण भी कोई खास नहीं था बल्कि मामूली-सा

था। आतमप्रकाश को उधार दिये गये पैसे उ के न लौटाने के कारण ही झगड़ा हुआ था। कुछ समय तक तो दोनों में कट्टर शत्रुता बनी रही थी, परन्तु बाद में दोनों की ही रुचि एकसाथ अध्यात्म की ओर अग्रसर होने के कारण शुत्रुता धीरे-धीरे मित्रता में बदलने लगी थी।

प्रो॰ अनुभवसहाय विचारने लगे – कि देखो, कितनी विचित्रता है। जो कभी कट्टर शत्रु था, वही आज घनिष्ठ मित्र है। और फिर उन्होंने पुनः 'जीवन के खास अनुभव' वाली कत्थई रंग के कॅवर वाली डायरी उठाकर लिखना प्रारंभ कर दिया –

"इस जीव का वास्तव में न तो कोई शत्रु है, न ही कोई मित्र। शत्रु अथवा मित्र मात्र राग-द्वेष की कल्पना है। राग-द्वेष के सद्भाव में आज का मित्र कल का शत्रु हो सकता है तथा आज का शत्रु कल का मित्र हो सकता है, ऐसी हालत में किसको शत्रु कहें और किसको मित्र? अपने वास्तविक शत्रु अथवा मित्र तो अपने ही बुरे अथवा अच्छे परिणाम हैं। जिन अच्छे परिणामों से राग-द्वेष का अभाव होता है, वे अच्छे परिणाम मित्र हैं तथा जिन बुरे परिणामों से राग-द्वेष प्रगट होते हैं, वे बुरे परिणाम ही अपने शत्रु हैं।"

इतना लिखकर प्रोफेसर साहब ने पुनः कलम टेबल पर रख दी तथा उसी डायरी के कुछ पन्ने पीछे की ओर पलट दिये। वहाँ पूर्व में उन्होंने अपने अनुभव की खास-खास बातें लिख रखी थीं, जिन्हें वे पढ़ने लगे – "राग-द्वेष, जन्म-मरण, बुढ़ापा, रोग-शोक, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि ये अठारह रोग हैं। इन रोगों का जबतक पूर्णरूप से अभाव नहीं हो जाता, तबतक अपने-आपको सुखी मानना भ्रम है। जबतक इनका नाश कर निरोगता प्राप्त नहीं करली जाती, तबतक चैन की श्वाँस लेना अपराध है।

अपनी आत्मा के अन्दर अपनी ही आत्मा के आश्रय से जो शान्ति प्रगट हुई, वही अपना वास्तविक धन है। वही शान्तिरूपी धन अपने साथ आनेवाला है। शेष धन तो यहीं पड़ा रह जानेवाला है। परिस्थितियाँ अच्छी अथवा बुरी चाहे कैसी भी क्यों न हों – सदैव एक जैसी नहीं रहतीं। कोई भी परिस्थिति शाश्वत नहीं है।"

इतना पढ़ने के बाद प्रोफेसर ने डायरी बंद कर दी। पढ़ने का विचार तो उनका और भी था; पर अब नींद उन्हें परेशान करने लगी थी। दोनों डायरियों को उठाकर अल्मारी में रखते हुए वहाँ से वे स्वयं उठ खड़े हुए। चश्मे को उतारकर टेबल पर रख दिया एवं लाइट का स्विच ऑफ करते हुए इस निर्णय के साथ पलंग पर लेट गए कि आतमप्रकाश के द्वारा चलाई जा रही धार्मिक पाठशाला का कार्य कल से अब स्वयं उन्हीं को सम्हालना है। उसे यों ही बन्द नहीं हो जाने देना है।

सारे कमरे में अंधकार व्याप गया, परन्तु हरा रंग का मंद-मंद प्रकाश अभी भी कमरे में फैला हुआ था, जो कि जीरो वाट के बल्ब से आ रहा था। कुछ ही पलों में प्रोफेसर अनुभवसहाय गहरी निद्रा में समा गये। इसी समय दीवाल घड़ी ने सुबह के तीन बजे के तीन घंटे बजाये और पुनः टिक-टिक की आवाज करती हुई अविराम गति से आगे बढ़ने लगी। ●

सफेद बाल

जिस सिर पर अबतक सिर्फ काले बालों का ही एकछत्र साम्राज्य छाया हुआ था उस सिर पर अचानक एक सफेद बाल को उगा देखकर काले बालों को कुछ अच्छा नहीं लगा। उनमें आपस में कानाफूसी होने लगी। सभी का लगभग यही कहना था कि इस सफेद बाल के कारण से हमारी शोभा को खतरा पैदा हो गया है। आखिर वे कबतक चुप रहते? एक दिन उन्होंने सफेद बाल को अपनी समस्या से अवगत करा ही दिया। काले बालों का एक प्रतिनिधि सफेद बाल के सामने अपनी आपत्ती प्रकट करते हुए बोला – "हे महाशय! आपने यह अपना रंग क्यों बदल लिया है? क्या आपको अनुशासन में रहने की जरा भी तमीज़ नहीं है? आप फिर से अपना रंग काला कर लीजिए।"

यह सुनकर के सफेद बाल चौंका। वह बोला – "अरे! आप तो ऐसे कह रहे हैं जैसे आपको कभी सफेद होना ही न हो? और मैंने अपना यह सफेद रंग अपनी इच्छा से थोड़े ही लिया है। बुढ़ापा आने पर तो ऐसा ही होता है उस पर किसी का वश थोड़े ही चलता है। आप भी एक न एक दिन ऐसे ही सफेद नहीं होओगे क्या?" सफेद बाल तो बुढ़ापे का लक्षण है।

"अबे बुड्ढा होयेगा तू, तेरा बाप। हम क्यों बुड्ढे होने लगे। कमाल करता है, अपने समान सभी को बुड्ढे बना लेना चाहता है। साफ-साफ सुन ले, आठ दिनों के भीतर-भीतर तूने फिर से अपना रंग काला न कर लिया तो इसका अन्जाम ठीक नहीं होगा।" वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ एक अन्य काला बाल जवानी के जोश में चिल्लाया।

बात सुनकर सफेद बाल को झटका लगा। वह सोचने

लगा – कैसे मूर्खों से पाला पड़ा है। इतना भी नहीं जानते कि एक न एक दिन तो सभी को बुढ़ापा आनेवाला है। शरीर का परिणमन एकदम स्वतंत्र है, उसे बुड्ढा होने से कौन रोक सकता है।

फिर भी सफेद बाल धैर्य को बरकरार रखते हुए बोला – "भाई आप बुड्ढे न होंगे, तो न सही। मैं भी यही चाहता हूँ कि आप सदा जवान बने रहें। परन्तु मेरे ऊपर तो बुढ़ापा आ ही गया है अब मैं इसमें क्या कर सकता हूँ? मैं जैसा भी हूँ ठीक हूँ। मैं अपने ढंग से जीने के लिये पूरी तरह से स्वतंत्र हूँ। आपको बीच में दखलंदाजी करने का कोई अधिकार नहीं है। मैं सफेद होकर रहूँ या काला। इससे आपको क्या फर्क पड़ता है?"

"फर्क क्यों नहीं पड़ता? हमारी सुन्दरता के ऊपर दाग जो लगता है। जरा सोचो न! उस व्यक्ति की सुन्दरता का क्या होगा, जिसके सिर पर हम उगे हुए हैं? हमारी न सही कम से कम उस व्यक्ति की सुन्दरता का तो ख्याल किया करो।" एक अन्य काले बाल ने शान्तिपूर्वक समझाने का प्रयास किया जो कि उसका निकटतम पड़ौसी था।

"उस व्यक्ति की चिन्ता को तुम छोड़ो, वह तुम्हारे समान अज्ञानी नहीं है, जो कि बुरा मान लेगा। इतना ज्ञान तो उसको जरूर होगा ही कि बुढ़ापा आने पर तो ऐसा होता ही है कोई जान-बूझकर बुड्ढा नहीं होता" – सफेद बाल ने कहा।

"क्या मतलब? क्या हम अज्ञानी हैं? आपने हमको अज्ञानी कहा?" काला बाल थोड़ा उत्तेजित होते हुए बोला! अन्य काले बालों में भी आपस में कानाफूसी होने लगी कि – देखो हमें अज्ञानी कहा।

"ओफ हो माफ करना, आपको अज्ञानी मैं नहीं कहता। शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि जो वस्तु के सहज परिणमन को स्वीकार नहीं करता वह अज्ञानी है। शरीर के आधार से अपने को सुन्दर अथवा असुन्दर मानना यह अज्ञान ही तो है। अपनी अर्थात् आत्मा की सुन्दरता का आधार तो रत्नत्रय है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से ही अपनी शोभा है। शरीर चाहे काला रहे अथवा सफेद, बुड्ढा रहे अथवा जवान इससे अपने को क्या? अपन तो मस्तराम हैं, आत्माराम है।" – अध्यात्मरस में सराबोर सफेद बाल बोला।

"रहने दो ये अपने भेद-विज्ञान की बातें अपने ही पास। जब देखो तब आत्मा-आत्मा। जैसे एक मात्र तुम्हीं धर्मात्मा हो गये हो। हम धर्मात्मा नहीं हैं क्या? धर्म के कार्य तो हम भी करते हैं। लेकिन हम तो कभी भी आत्मा की रट नहीं लगाये फिरते।" एक अन्य काला बाल जो कि अपने आपको धर्मात्मा समझता था यह द्वेषवश बोला।

"अरे भाई ये धर्म-कर्म की बातें बीच में कहाँ से ले आये? बात तो रंग की चल रही थी। उस सफेद बाल से साफ-साफ कह दो कि आठ दिनों के भीतर-भीतर अपना रंग फिर से काला कर लेवे। बात तो इतनी-सी ही है। व्यर्थ में उलझने से क्या फायदा?" एक अन्य काला बाल बोला तो सैकड़ों अन्य काले बालों ने भी उनकी बात का समर्थन किया – हाँ हाँ बात तो इतनी ही है।

"और यदि मैं ऐसा नहीं करता हूँ तो आप लोग मेरा क्या कर लेंगे?" सफेद बाल ने किंचित् हंसते हुए पूछा।

"अरे हमको चुनौती देता है। इस अकेले की इतनी हिम्मत। भाइयों! देखते क्या हो? उखाड़ फेंको इसे। यह हमारे बीच में रहने के लायक नहीं है।" वही काला बाल जो

कि अपने आपको धर्मात्मा समझता था, जोर से चिल्लाया।

"हाँ हाँ उखाड़ फेंको, उखाड़ फेंको।" कई स्वर एक साथ उभरे और फिर सफेद बाल को उखाड़ फेंकने हेतु आगे बढ़ने के लिए वे सब छटपटाये लेकिन अपने स्थान से वे हिल भी नहीं पाये। सबके सब मजबूर थे। बात को बिगड़ते हुए देखकर एक अन्य काला बाल समझदारी दिखाते हुए बोला –

"अरे इसे उखाड़ फेंकना ठीक नहीं। इसके प्रति हमें उदारता बरतनी चाहिए। हमें इसको शान्ति से समझाना चाहिए।"

फिर वही काला बाल समझाने के अन्दाज़ में सफेद बाल से बोला – "देख भाई सफेद! हमें तो कोई एतराज नहीं है लेकिन उस व्यक्ति को तो जरूर ही एतराज होगा जिसका नमक खाकर के हम पलपुस रहे हैं। क्यों न इस संबंध में उसकी राय भी जान ली जाये।"

"हाँ यही ठीक रहेगा, यही ठीक रहेगा।" कई स्वर एक साथ उभरे।

"ठीक है, पूछ लो उसको भी, पूछ लो।" – सफेद बाल ने कहा। उसको आशा जगी कि व्यक्ति उसके पक्ष में जवाब देगा।

उस व्यक्ति से पूछा गया। वह व्यक्ति बोला – "अरे मैं स्वयं ही इसके बारें में आपसे कहनेवाला था। चलो अच्छा हुआ आपने ही पूछ लिया। भई सीधी-सी बात है यह मुझे अच्छा नहीं लगता।"

"अच्छा नहीं लगता तो उखाड़ फेंको इसे। आपके हाथ किस काम के। हमारा कहा तो यह मान ही नहीं रहा है। उल्टा हमसे ही बहस करने लगा यह।" – एक काला बाल बोला।

"आपका कहा यह नहीं मानता है, मेरा कहा तो यह

जरूर मानेगा। भई सफेद बाल! मैं स्वयं तुमसे कह रहा हूँ कि तुम अपना रंग बदल लेना। आठ दिनों की मोहलत दी जाती है तुम्हें।" उस व्यक्ति ने सहजभाव से कहा और अपने काम में व्यस्त हो गया। उसे पूर्ण विश्वास था कि सफेद बाल उसका कहा जरूर मान लेगा।

सफेद बाल की मजबूरी को समझनेवाला यहाँ कोई नहीं था। सबके सब इस आशा के साथ कि सफेद बाल अपना रंग बदल लेगा, अपने-अपने कार्य में व्यस्त हो गये।

आठ दिन व्यतीत हो जाने पर भी स्थिति ज्यों की त्यों रही तो काले बाल उस व्यक्ति के पास जा धमके और बोले – "देखा साहब! आखिर इसने आपका कहा भी नहीं माना। अब तो आप जरा-सी भी देरी किये बगैर इसे उखाड़ फेंकिये। आप जरा भी संकोच मत कीजिए।"

"अरे भई यह सफेद होकर के रहता है तो सफेद होकर के ही रहने दो। आपको क्या तकलीफ है?" – वह व्यक्ति बोला।

व्यक्ति की बात सुनकर सभी चौंके।

"क्या? आप यह क्या कह रहे हैं? आपको यह क्या हो गया? अभी आठ दिन पहले तो स्वयं आपने ही इसे काला हो जाने का आदेश दिया था। अब आप ये क्या कह रहे हैं?" काले बालों की तरफ से कई स्वर एक साथ उभरे।

"हाँ कहा था, मगर अब बात दूसरी ही है। उस समय मैं स्वयं ही अज्ञानी था। मुझे इस बात का खेद है कि उस समय बिना सोचे-समझे ही मैंने सफेद बाल को ऐसा करने का आदेश देकर उसका दिल दुखाया। भला हो उन पंडितजी का और ब्रह्मचारीजी का जिन्होंने मेरी आँखें खोल दीं" – वह व्यक्ति बोला।

"कौन पण्डितजी? कौन ब्रह्मचारीजी?" – काले बालों ने पूछा।

"सुनो बताता हूँ। आज से लगभग पाँच दिन पहले मेरा लड़का मेरे पास आकर बोला – 'पिताजी! जैन पाठशाला का निरीक्षण करने के लिये बाहर से पंडितजी आये हुए हैं, उन्होंने सभी बच्चों को आदेश दिया है कि आज वे अपने-अपने पिताजी को पाठशाला में लेकर आवें। इसलिये आपको भी मेरे साथ पाठशाला चलना है।'

मैं बच्चों के साथ पाठशाला पहुँचा तो पंडितजी ने सभी को प्रवचन में जाने की प्रेरणा देते हुए कहा – 'आज मंदिरजी में हमारे साथ में आये हुए ब्रह्मचारीजी का प्रवचन होगा इसलिये यहाँ से छूटने के बाद सभी को मंदिरजी में उपस्थित होना है।' "अच्छा! फिर क्या हुआ?" – काले बालों की जिज्ञासा जगी।

"हम मंदिरजी में पहुँचे। ब्रह्मचारीजी का प्रवचन सुना तो मेरी आँखें खुल गयीं।"

"वह कैसे?"

"ब्रह्मचारीजी ने अपने प्रवचन में कहा –

'ज्ञानस्वरूप आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। शरीर के ऊपर आत्मा का बस नहीं चलता। शरीर का परिणमन स्वतंत्र है। आत्मा अपनी इच्छा के अनुसार इस शरीर को जैसा रखना चाहे वैसा नहीं रख सकता। यह बात इसी से सिद्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति (आत्मा) अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और निरोग बनाये रखना चाहता है, परन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसके शरीर में बुढ़ापे के लक्षण प्रगट न हों, उसके बाल सफेद न हों, चेहरा अन्दर को न धँस जाये। हड्डियाँ बाहर को न निकल आयें, परन्तु फिर भी ऐसा होता ही है।

क्या इन सब बातों से यही सिद्ध नहीं होता कि आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं तथा दोनों का परिणमन भी भिन्न ही है। कोई किसी के आधीन नहीं है।

जरा सोचो तो! आपका अपना कहे जानेवाले इस शरीर के ऊपर भी जब आपका बस नहीं चलता तब आपसे जो प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं, ऐसे स्त्री-पुत्र, माता-पिता, घर-दुकान, गाँव, नगर, देश आदि-आदि सभी परद्रव्यों पर भी आपका बस कैसे चले? उनके कर्त्ता-धर्ता आप कैसे हो गये तथा वे आपके कैसे हो गये?

वस्तुतः बात तो यह है कि कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का नहीं है तथा अन्य पदार्थ का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता भी नहीं है। सबका परिणमन स्वतंत्र है तथा सब अपने-अपने परिणामों के ही कर्त्ता-धर्त्ता हैं।''

ऐसा सोचकर परद्रव्यों में फेरबदल करने की बुद्धि को त्याग देना चाहिये और ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में ही जमने -रमने का पुरुषार्थ करना चाहिए। उसी को 'स्व' मानना एवं जानना चाहिये तथा उसी के अनुभव में मस्त रहना चाहिए। सुखी होने

का यही सच्चा उपाय है। कहते हुए वह व्यक्ति कुछ देर के लिये रुका तो काले बालों ने बेसब्री से पूछा –

"फिर क्या हुआ?"

"होना क्या था। मुझे ब्रह्मचारीजी की बातें जँच गयीं। न सिर्फ जँच गयीं; बल्कि मेरे हृदय में गहराई तक प्रवेश कर गयीं। उन महात्मा का प्रत्येक शब्द मुझे अपनी आत्मा की तरफ ले जानेवाला लगा। शुद्धात्मा की, भगवान आत्मा की महिमा उनके मुख से सुनकर मैं अपने शुद्धात्मा में चला गया और मुझे उसकी प्रतीति हो गयी। मुझे दृढ़ श्रद्धान हो गया कि मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा ही हूँ तथा राग एवं शरीर मैं नहीं हूँ।

शरीर चाहे जैसा होकर रहे, मुझे उससे क्या? बाल सफेद होकर रहे अथवा काले, मुझे इससे भी क्या? मैं तो अपने में हूँ और अपने में ही रहूँगा।

भाई वास्तविकता तो यही है कि एक दिन तुम स्वयं भी सफेद हो जाओगे। तुम स्वयं भी अपने आपको सफेद होने से (बुड्ढे होने से) बचा नहीं पाओगे। इसलिए अपने आत्मा के कल्याण में शीघ्र लग जाओ।" उस व्यक्ति ने काले बालों को प्रेरणा देते हुए कहा और अपने कार्य में व्यस्त हो गया।

कुछेक काले बालों को छोड़कर के शेष सभी काले बालों को उस व्यक्ति की बातें अच्छी नहीं लगी, परन्तु वे कर भी क्या सकते थे। उनका सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। लेकिन सफेद बाल को उस व्यक्ति की बातें सुनकर जरूर प्रसन्नता का अनुभव होने लगा। उसकी सारी चिन्ता दूर हो गयी। उसने सोचा – चलो अच्छा हुआ जो समय रहते यह व्यक्ति भी समझदार हो गया, चेत गया। मुझे धर्मात्मा साथी तो मिला।

अभी मुश्किल से चार दिन भी व्यतीत होने न पाये थे कि ऐसा कुछ घटित हो गया, जिसे देखकर काले बालों की

प्रसन्नता का ठिकाना ही न रहा। सुबह-सुबह में ही उन काले बालों ने देखा कि वह व्यक्ति कूची से अपने सफेद बाल को काला कर रहा है। दर्पण के सामने खड़े होकर उस व्यक्ति ने अपने सफेद बाल को उँगलियों से पकड़कर उसे काले रंग की डिबिया में भिगोते हुए सफेद बालों पर घुमा दिया। देखते ही देखते सफेद बाल काला हो गया। बस! फिर क्या था। काले बालों की प्रसन्नता का ठिकाना ही न रहा। जहाँ एक ओर उनमें प्रसन्नता व्याप्त हो गयी, वहीं दूसरी ओर कौतूहल भी जाग्रत हुआ कि अब क्या हुआ जो यह व्यक्ति फिर से बदल गया। सच्ची लाइन पर आ गया। जिज्ञासा को शान्त करने के उद्देश्य से एक काले बाल ने उस व्यक्ति से पूछ ही लिया –

"क्यों महाशयजी! अब क्या हो गया? आप तो भेद-विज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें कर रहे थे न? अब कहाँ धरा रह गया आपका भेद-विज्ञान।"

"सो, तो अब भी है ही। दरअसल बात यह है कि इस शरीर के प्रति राग तो मेरे भी अभी पाया ही जाता है। शरीर के प्रति राग का अभाव अभी मुझे नहीं हुआ है। अभी तो सिर्फ भिन्नता ही भासित हुई है। अभी मुझमें इस किस्म की वीतरागता प्रगट नहीं हो गयी है कि शरीर को सजाने-संवारने का भाव (परिणाम-विकल्प) ही मुझे न आये।

अरे भाई! मैं तो अभी गृहस्थ हूँ। मेरी भूमिका के अनुसार मैं ठीक ही हूँ आपको भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है। मान्यता तो मेरी अभी भी यथार्थ ही है कि मैं ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा हूँ तथा शरीर और राग से भिन्न हूँ।

यह तो मेरे चारित्र की कमजोरी का ही दोष है श्रद्धा का नहीं। चारित्र का दोष तो धीरे-धीरे ही दूर होगा। तुम थोड़ा धैर्य रखो।" – व्यक्ति ने कहा।

"क्या मतलब? हम तो कुछ समझे नहीं। हमारी समझ में तो कुछ भी नहीं आया।" – काले बालों ने कहा।

"शरीर को अपना मानना अलग बात है और शरीर के प्रति राग का होना अलग बात है। यह जरूरी नहीं है कि शरीर को अपना मानना छोड़ देने के साथ ही उसके प्रति पाये जानेवाले राग का भी तत्काल ही अभाव हो जाये। राग का अभाव तो होते-होते ही होगा।

ऐसा नहीं है कि इधर आपने शरीर को अपना मानना छोड़ा और उधर उसके प्रति पाये जानेवाले राग का भी आपके अभाव हो गया। यदि ऐसा होता तब तो सम्यग्दर्शन के साथ तत्काल ही मुनिपना और मोक्ष भी हो जाना चाहिए था; परन्तु ऐसा नहीं होता।

ज्यों-ज्यों मेरे स्वानुभव में वृद्धि होगी, बारह भावनाओं का चिन्तन-मनन बढ़ेगा, त्यों-त्यों मेरा राग भी गलेगा और तब मैं इस शरीर को सजाना-संवारना भी छोड़ दूँगा; परन्तु फिलहाल तो मेरी ऐसी कोई परिणति नहीं है। अरे भाई! भेदविज्ञान के द्वारा सम्यग्दृष्टि तो आप भी मेरी तरह बन ही सकते हैं। आप बनिये न!" उस व्यक्ति ने यह कहते हुए बालों से पल्ला छुड़ाना चाहा; परन्तु बालों ने तो फिर सवाल खड़ा कर दिया।

"अच्छा कृपा करके इतना बता दीजिये कि आप इतने वीतरागी कब हो जायेंगे, जब आप हमें सजाना-संवारना ही बन्द कर देंगे।"

"ओहो! इसके बारे में अभी से कुछ नहीं कहा जा सकता। बस इतना समझ लीजिये कि अभी तो मेरा एक बाल ही सफेद हुआ है। जब आप सभी सफेद हो जायेंगे, तबतक शायद ऐसा हो जाये" – उस व्यक्ति ने कहा।

व्यक्ति की बात सुनकर काले बाल खुश हो गये कि चलो

अभी तो चिन्ता की कोई बात नहीं है। काफी लम्बे समय तक हम सजाये-संवारे जाते रहेंगे। हमारा एक साथी जो कि भूल से सफेद हो गया था, वह भी फिर से काला कर दिया गया है। सभी बालों को हिदायत दे दी गयी कि हममें से अब कोई भी अपना रंग सफेद कर लेने की गलती न करे और सब अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हो गये।

अभी कुछ ही माह व्यतीत हुये थे कि दो-चार बाल और सफेद हो गये। परन्तु चिन्ता की कोई खास बात नहीं हुई, क्योंकि उस व्यक्ति के द्वारा वे पुनः काले कर दिये गये।

धीरे-धीरे सफेद बालों की संख्या में वृद्धि होने लगी। शेष बालों के लिये यह चिन्ता का विषय बनता जा रहा था। साथ ही उनमें यह डर भी समाता जा रहा था कि कहीं वे स्वयं भी एक न एक दिन ऐसे ही सफेद न हो जायें और इसी डर से कोई किसी को कुछ कहता भी नहीं था। यद्यपि सफेद हो जाना किसी को भी अच्छा नहीं लग रहा था।

सफेद बालों की संख्या में बढ़ोतरी होती रही और समय-समय पर उस व्यक्ति के द्वारा वे काले किये जाते रहे।

धीरे-धीरे हुआ ऐसा कि सफेद बाल अधिक हो गये और काले बाल कम। वही बाल जो कि सबसे पहले सफेद हुआ था एक दिन बोला –

"देखा साथियों आपने! वही हुआ न जैसा मैंने कहा था। यद्यपि उस समय तो आपने मेरी बात सच नहीं मानी थी, लेकिन अब तो आप मान ही गये न कि 'वस्तु का परिणमन स्वतंत्र है' इस शरीर के ऊपर भी हमारा वश नहीं चलता।"

कुछेक बालों ने उस बाल की सहमति में अपना सिर हिला दिया, लेकिन अधिसंख्य बाल तो अब भी चुप ही रहे। वस्तु के स्वतंत्र परिणमन की बात उन्हें पसन्द नहीं आयी। एक काला

बाल तो भड़क करके चिल्लाया – ठीक है! ठीक है! कभी -कभी इस शरीर के ऊपर हमारा वश नहीं चलता तो क्या हुआ? शेष मामलों में तो हम पर के कर्त्ता-धर्त्ता तो हैं ही।

कुछ साल और व्यतीत हुए। सिर के सारे बाल सफेद हो गये और उनके साथ ही वह व्यक्ति भी विरक्त हो गया। उसने बालों को काला करना बन्द कर दिया। बालों की चिन्ता बढ़ गयी। उन्होंने उस व्यक्ति से पूछा –

"अबतक तो आप हमें काला कर दिया करते थे, अब क्या हो गया जो कुछ दिनों से आप हमारी सुध ही नहीं ले रहे हैं।"

"अरे! देख नहीं रहे? मेरे अंग-अंग से बुढ़ापा झलक रहा है। पूरे बाल सफेद, पिचके गाल, दुबला-पतला बदन। क्या अब भी इसे सजाने-संवारने के लिये कुछ बाकी रह गया है? अरे भाई! अब तो विरक्त होने का अवसर आया है विरक्त होने का! आत्म-सम्मुख होने का, आत्मस्थ होने का, आत्मचिन्तन का, आत्ममनन का।

यथार्थ को समझते हुए आप भी विरक्त होइये। सजने -संवरने के राग को छोड़िये और ऐसा कुछ कीजिये, जिससे अपनी आत्मा का कल्याण हो सके।"

उस व्यक्ति ने बालों को प्रेरणा देते हुए कहा और स्वाध्याय में व्यस्त हो गया।

व्यक्ति से प्रेरणा पाकर और यथार्थ को समझते हुए कुछ बाल तो सचमुच ही विरक्त हो गये; पर अधिकांश बाल तो मूढ़ ही बने रहे। उन्हें यथार्थ से कुछ भी प्रयोजन नहीं था।

इधर, वह व्यक्ति यद्यपि उस हद तक तो विरक्त नहीं हो पाया कि सब कुछ छोड़कर के मुनिदीक्षा ही ले ले; परन्तु इसकी विरक्ति इतनी बढ़ गयी कि उसने अपने आपको काफी हद तक संयमित कर लिया। गृहस्थ श्रावक के योग्य व्रतादि

उसने अंगीकार कर लिये। सामायिक, चिन्तन-मनन, एकाशन, उपवास, स्वाध्याय, दिग्व्रत-देशव्रत आदि उसके जीवन के प्रमुख अंग बन चुके थे।

व्यक्ति से प्रेरणा पाकर के जो बाल विरक्त हो चुके थे, वे तो सिर से उड़ गये अर्थात् सदा-सदा के लिये मुक्त हो गये, उनका मोक्ष हो गया, परन्तु जो बाल विरक्त नहीं हुए, वे सिर के साथ ही चिपके रहे। मुक्त होनेवाले बालों में सबसे पहला नम्बर उस सफेद बाल का था जो कि सबसे पहले सफेद हुआ था तथा शुरू से ही ज्ञानी था।

इधर, आयु पूर्ण होने पर वह व्यक्ति भी समाधिमरणपूर्वक देह का त्याग कर स्वर्ग लोक को गमन कर गया। वहाँ से आकर के फिर मनुष्य होकर के मुनि बनकर मोक्ष में जायेगा।

व्यक्ति के शरीर के साथ ही साथ वे बाल भी जलकर खाक हो गये जो मोह के कारण विरक्त नहीं हो पाये और सिर के साथ ही चिपके रहे। अर्थात् वे बहुत दुःखी हुए और अधोलोक को गगन कर गये।

देह में एकत्व-ममत्व रखने वाले मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी जीवों के लिए मृत्यु दुःखद हो सकती है; क्योंकि वे पर्यायमूढ़ होने से मुत्यु को सर्वनाश का हेतु मानते हैं, पर उन भेदविज्ञानियों को तो मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिए, जिन्होंने तत्त्वाभ्यास और वैराग्यजननी बारह भावनाओं के सतत चिन्तन-मनन से संसार, शरीर व भोगों की असारता, क्षणभंगुरता एवं आत्मा की अमरता का भलीभाँति अनुभव कर लिया है।

जिनकी परिजन-पुरजनों के प्रति भी मोह-ममता नहीं रही है और देह के प्रति भी अपनत्व टूट चुका है, उन्हें तो मृत्यु के भय से भयभीत नहीं होना चाहिए।

– विदाई की बेला, पृष्ठ-८२

बरगद का मोक्ष

एक छोटी सी चिड़ियाँ कहीं से उड़ती हुई आयी और उस बरगद के पेड़ पर बैठ गयी। वह कुछ समय के लिये आराम करना चाहती थी।

"अरे यह क्या! बरगद चाचा, आप तो रो रहे हैं। भला आप रो क्यों रहे हैं ?" – चिड़ियाँ ने पूछा।

"क्या बताऊँ बिटिया, मैं बड़ा दुःखी हूँ। सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो गये मुझे यहाँ रहते-रहते, लेकिन फिर भी मेरे इस दुःखद संसार का अन्त ही नहीं हो पा रहा। संसार के दुःख सहते-सहते मैं तो घबरा गया हूँ। अब तो मैं इस संसार का अन्त चाहता हूँ।" – बरगद ने व्यथित होकर कहा।

"चाचाजी आप संसार के दुःखों का अन्त चाहते हैं तो रोते रहने के बजाय कुछ उपाय कीजिये, कुछ पुरुषार्थ कीजिये। क्या आपने अपने इस संसार के अन्त के लिए अबतक कुछ उपाय भी किये ?" – चिड़ियाँ ने पूछा।

"हाँ किये। एक बार नहीं अनेक बार किये; पर सब उपाय व्यर्थ गये।" – बरगद ने कहा।

"क्या कहा! सब व्यर्थ गये। खैर! जरा यह तो बताइये कि आपने क्या-क्या उपाय किये ?" चिड़िया ने पूछा।

"एक बार तो मैने अपने सारे के सारे पत्ते ही झाड़ लिये यानि कि मैं सिर मुड़ा कर ब्रह्मचारी बन गया। सोचा था पत्ते ही न रहेंगे तो पशु-पक्षी बसेरा बंद कर देंगे, उनकी चहल-पहल और कोलाहल से मुक्ति तो मिल ही जायेगी कुछ समय के लिये ऐसा हुआ भी; परन्तु कुछ ही काल व्यतीत होने पर हरे-भरे पत्ते फिर से निकल आये और फिर वही रैन बसेरा और कोलाहल।" – बरगद ने कहा।

"यह तो होना ही था; क्योंकि आपने जो उपाय किया वह सच्चा उपाय नहीं था। फिर आपने क्रम से डालियाँ, शाखायें और उपशाखायें भी कटवायी होंगी। क्यों है न यही बात ?" चिड़ियाँ ने कहा।

"हाँ बिटिया बात तो यही है। अरे! पर यह सब तुम्हें कैसे मालूम ? तुम तो काफी समझदार मालूम होती हो।" – बरगद ने कहा।

"होता है, अक्सर ऐसा ही होता है। खैर! आप तो यह बताइये कि आपने ये सब कटवाये किसके पास थे।" – चिड़ियाँ ने पूछा।

"मनुष्य के पास डालियों और उपशाखाओं को कटवाने में तो मुझे कुछ भी परेशानी का सामना नहीं करना पड़ा; लेकिन तीसरी बार जब मैने अपनी शाखायें कटवाने का विचार किया तब मुझे काफी बहस का सामना करना पड़ा तब कहीं जाकर मुझे सफलता मिल पाई।" – बरगद ने कहा।

"वह क्या ? वह कैसे ?" – चिड़ियाँ ने पूछा।

"सुनो सुनाता हूँ। कहानी लगभग 30-40 वर्ष पुरानी है" कहते हुए बरगद ने सुनाना प्रारम्भ किया –

एक पंडितजी मेरे पास से गुजरने लगे तो मैने अपनी दुःखभरी कहानी सुनाते हुए कहा – "पंडितजी साहब जरा मेरी यह शाखायें कट़वा दीजिये न! ताकि किसी तरह से मेरे संसार के इन दुःखों का अन्त आ जावे।"

"अरे! आप संसार के दुःखों का अन्त चाहते हैं और आपको इतना भी नहीं मालूम कि संसार वृक्ष का मूल कारण तो उसकी मिथ्यात्वरूपी जड़े हैं। जबतक मिथ्यात्व की जड़े रहेंगी तब तक संसाररूपी वृक्ष तो पल्लवित होता ही रहेगा।"

"आप बिना विवेक (बिना सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के) मात्र

दया से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं सो यह तीन काल में भी बनने वाला नहीं है।" इतना कहकर पंडितजी चुप हो गये। मैं भी निरुत्तर-सा हो गया। उनके साथ वाद-विवाद करते मुझसे न बना, फिर न जाने क्या सोचकर पंडितजी आगे बोले –

"आप शाखायें यदि कटवाना ही चाहते हैं तो एक शर्त पर मैं इसके लिये राजी हो सकता हूँ।"

"वह क्या ? जल्दी बताइये मैं आपकी सब शर्तें मानने के लिये तैयार हूँ।" – मैंने कहा।

"पहले आप अपने सारे पत्तों को एक बार फिर से झाड़ लीजिये ताकि इसपर रहने वाले पक्षी अपने आप ही यहाँ से चले जावेंगे और घोसले भी खाली हो जायेंगे। फिर कुछ समय बाद मैं आकर आपकी शाखाओं को कटवा ले जाऊँगा – वैसे भी घर के निर्माण के लिये हमें बहुत सारी लकड़ियों की जरूरत हैं।" पण्डितजी ने कहा।

मैं इसके लिये सहर्ष राजी हो गया तब कुछ महीनों बाद वापिस आने का आश्वासन देकर पंडितजी यहाँ से चले गये।

मैंने अपने सारे पत्ते झाड़ लिये। मैं बिल्कुल सूना हो गया। पण्डितजी अपने वायदे के अनुसार कुछ महिनों बाद मेरी सारी शाखाओं को काट कर चार-पाँच ट्रकों में भरवा ले गये।

"30-40 वर्षों के अन्दर-अन्दर मैं जैसा पहले था, वैसा ही वापस पुनः हो गया, शाखायें उपशाखायें टहनियाँ, पत्ते सब फिर से उग आये और पशु पक्षियों ने फिर से मेरे ऊपर डेरा जमा लिया। मैं फिर से दुःखी हो गया। बरगद ने चिड़ियों से कहा यह सब तो तुम्हारे सामने ही है। वह देखो न वह गिलहरी कब से मेरे पत्तों को कुतर रही है मुझे कितनी पीड़ा हो रही है। अब मैं क्या करूँ तुम्हीं कुछ बताओ न!"

"वही करो जो पण्डितजी ने करने के लिये कहा था। आपने पण्डितजी की बात न मानकर बिल्कुल भी अच्छा नहीं किया। अब मैं भी तुमसे यही कहती हूँ कि पहले अपनी जड़ों को खोखला करो, अपनी जड़ों को काटो। संसार वृक्ष का मूल कारण मिथ्यात्व रूपीजड़ ही है। तुम्हारा वास्तविक संसार जड़ों में ही है, जिसे तुम अबतक अकिंचित्कर माने बैठे हो।" चिड़िया ने कहा।

"जड़ें! अरे हाँ, अब याद आया। वह उपाय भी मैंने कर लिया, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। आज से लगभग चार-पाँच वर्ष पहले एक बूढ़ा व्यक्ति मेरे पास आकर बोला – बरगद चाचा! आप तो जैसे थे वैसे ही वापस हो गये। यदि आपने 30-40 वर्ष पूर्व जब मैं पहली बार आपके पास आया था, मेरी बात मान ली होती तो कितना अच्छा होता। आज आपकी फिर से यह दशा न होती।"

"बुढ्ढे की बात सुनकर मैं चौंका – यह बुढ्ढा कौन है? और क्या कह रहा है? लेकिन जब मैंने अपने दिमाग पर जोर लगाते हुए सोचने की कोशिश की तो मुझे याद हो आया कि अरे! यह तो वही पंडितजी हैं जो काफी बरस के बाद मेरी शाखाओं को कटवाकर ले गये थे। मैं प्रसन्न होते हुए बोला – अहो पंडितजी आप! अरे! आप तो काफी बुढ्ढे हो चले हैं। कहो क्या हाल चाल हैं? कैसे आना हुआ यहाँ? सब ठीक-ठाक तो है?"

"अरे भाई बुढ्ढा मैं कहाँ हुआ हूँ। बुढ्ढा तो यह शरीर हुआ है। मैं तो अब भी वैसा ही हूँ जैसा पहले था। मैं तो तीनों काल एक रूप रहने वाला ध्रुव आत्मतत्त्व हूँ। खैर! तुम अपनी सुनाओ। अब तो तुम सुखी हो गये न?" अब तो तुम्हारे संसार के दुःखों का अन्त हो गया होगा? पंडितजी ने कहा।

"उनकी बात सुनकर मुझे शर्मिन्दगी महसूस होने लगी। मैंने कहा – पंडितजी साहब मुझे क्यों शर्मिन्दा करते हो? मेरी हालत तो आप देख ही रहे हो। इस बार मैं अपनी जड़ें कटवाने के लिये तैयार हूँ।"

"शाबाश! यह हुई न कोई बात।" पंडितजी के बुढ्ढे चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ गयी।

"पंडितजी साहब! मेरी शाखाओं और उपशाखाओं में से फूट-फूट कर जो जड़ें नीचे जमीन की तरफ लटक रही हैं, जमीन के अंदर धँसने को बेताब हो रही हैं, इन सारी जड़ों को आप कटवा दीजिये।" – मैंने कहा।

"उन जड़ों को कटवा दूँ। इससे क्या फायदा वह तो फिर से उग आयेंगी इन समस्त ही छोटी-मोटी जड़ों का भी मूल कारण तो अन्दर जमीन में धँसी हुई महाजड़ें हैं। अरे! पहले जमीन के अन्दर दूर-दूर तक फैली हुई महाजड़ों को खोखला करो। उनके खोखला होने पर ये छोटी-मोटी जड़ें तो अपने आप ही सूख जायेंगी। इनको काटने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।"

"अन्य सभी प्रकार की छोटी-मोटी विपरीत मान्यताओं को छोड़ देने पर भी जब तक अन्दर में शरीर और पर्याय के साथ एकता बुद्धि रूप अगृहीत मिथ्यात्व की महा विपरीत मान्यता पड़ी रहती है तब तक संसार के दुःखों का अन्त होने वाला नहीं है। संसार के दुःखों का मूल कारण तो अगृहीत मिथ्यादर्शन रूप जड़े हैं। पहले उनको छोड़ो न! इसको छोड़ने पर नियम से अन्य सभीप्रकार की विपरीत मान्यताओं का नाश हो जाता है। तुम मूल कारण को ही पहले छोड़ो न! ऊपर-ऊपर की जड़ें काटने से क्या फायदा? – पण्डितजी ने कहा।" तब मैंने थोड़ा झुँझलाते हुए कहा –

"अरे पंडितजी आप तो फिर बहस करने पर उतर आये। भाई आपसे बहस करने की तो मेरे में शक्ति नहीं है। मेरा तो बस इतना ही कहना है कि आप मेरी इन छोटी-मोटी जड़ों को कटवा दीजिये।"

पण्डितजी की आँखों से बड़ी बेबसी झलकने लगी। कुछ देर तक न मालूम वह क्या सोचते रहे, फिर बोले –

"ठीक है मैं इसका इंतजाम करवा दूँगा। यदि मैं ऐसा नहीं करवाता हूँ तो यह जड़ें जमीन में धँसकर नये-नये बरगद का रूप ले लेंगी। एक बरगद के ही अनेक बरगद हो जायेंगे। तुम स्वयं ही विस्तार को प्राप्त होते हुए अनेक रूप हो जाओगे। फिर तो तुम्हारे दुःखों का अन्त आ पाना लगभग असंभव ही हो जायेगा। फिर तो तुम्हारे संसार का अन्त कभी भी न हो सकेगा।

पर याद रक्खो इनको कटवाने से कोई स्थायी फायदा होने वाला नहीं है, क्योंकि ये कुछ ही समय में पुनः उग आयेंगी। स्थायी इलाज तो तभी होगा जब तुम जमीन के अंदर धँसी हुई मूल जड़ों को खोखला करोगे, पर न मालूम क्यों तुम्हें यह बात जँचती ही नहीं है? खैर तुम्हारी जैसी होनहार मैं क्या करूँ?" कहते हुए बूढ़े पण्डितजी उदास मन से यहाँ से चले गये।

अगले दिन आठ दस मजदूर आकर मेरी लटकती हुई जड़ों को काटने लगे। मैं समझ गया कि ये पंडितजी के ही भेजे हुए हैं। जड़ों के कट जाने पर मैं बड़ा प्रसन्न था कि अब मेरे संसार के दुःखों का अन्त हो जायेगा लेकिन .....

"लेकिन ऐसा नहीं हुआ। आपने देखा होगा कि कुछ ही दिनों में आपकी जड़ें फिर से वृद्धि को प्राप्त होने लगी हैं। क्यों चाचाजी हैं न यही बात?" – चिड़ियों ने चहकते हुए

कहा।

हाँ, हाँ ऐसा ही हुआ और आज तो यह फिर जमीन में धँसने के लिये बेताब हो रही हैं। अब मैं क्या करूँ? कुछ समझ में नहीं आता।

"इसमें समझ में नहीं आने जैसी कौनसी बात है? अरे भाई सीधी सी तो बात है, अपनी मूल जड़ों को पहले खोखला करो। आपने एक बार फिर पण्डितजी की बात नहीं मानी आप एक ही गलती को बार-बार दुहराना चाहते हैं। सही बात स्वीकार करने में आपको तकलीफ क्यों ? माफ करना चाचाजी! आपको कुछ बुरा तो लगा होगा, पर मैं तो आपके भले के लिये ही ऐसा कह रही हूँ।

सिर्फ और सिर्फ एक ही उपाय है कि आप अपने संसार वृक्ष के नाश के लिये सर्वप्रथम महामिथ्यात्व रूपी मूल जड़ों को खोखला करो।

अच्छा चाचाजी अब मैं चलती हूँ" कहते हुए वह चिड़िया वहाँ से फुर हो गई।

चिड़िया के द्वारा कहे गये यह अन्तिम शब्द कि "सिर्फ और सिर्फ एक ही उपाय है कि आप अपने संसार वृक्ष के नाश के लिये सर्वप्रथम महामिथ्यात्व रूपी मूल जड़ों को खोखला करो" बरगद के कानों में बार-बार गूँजने लगे, परन्तु उस मिथ्यात्व रूपी मूल जड़ों को खोखला करने का उपाय क्या है और इसका महत्व क्यों हैं? यह बात उसकी समझ में नहीं आ पा रही थी।

संयोगवश उसी बरगद के पेड़ के नीचे शान्त सौम्य मुद्रा के धारी नग्न दिगम्बर, परम वीतरागी भावलिंगी मुनिराज आकर रुके। और एक शिलाखण्ड पर आसन जमाकर ध्यान मग्न हो गये।

जिस तरह से फूल की खुशबू से लालायित होकर भँवरे स्वयमेव ही फूल की तरफ दौड़े चले आते हैं और उसके इर्द-गिर्द मंडराने लगते हैं इसी तरह से मुनिराज का आगमन सुनकर तत्त्व जिज्ञासु गृहस्थ लोग मुनिराज के पास आकर इकट्ठे होने लगे। मुनिराज का ध्यान भंग हुआ तो किसी ने पूछा –

"महाराज! कृपा करके यह बताइये कि इस संसार के दुःखों का मूलकारण क्या है और उसका स्वरूप क्या है?"

तब मुनिराज ने भी यही कहा –

"संसार के दुःखों का मूल कारण मिथ्यात्व (उल्टी मान्यता) है। संसार वृक्ष के नाश के लिये सबसे पहले उसकी मिथ्यात्व रूपी जड़ों पर प्रहार करना चाहिये। उसकी जड़ों को खोखला करना चाहिये।"

"हैं....." मुनिराज की बात सुनकर वह बरगद का पेड़ भी चौंका। वह एकदम चौकन्ना हो गया और बड़े ही ध्यान से मुनिराज की बात को चुपचाप सुनने लगा। मुनिराज कह रहे थे –

"जब तक यह आत्मा, मैं शरीर हूँ, शरीर की क्रियाओं का कर्त्ताधर्त्ता मैं हूँ, राग द्वेष मय क्षणिक शुभाशुभ वृत्तियाँ मेरी हैं आदि विपरीत मान्यताओं रूपी हवा, पानी और मिट्टी के द्वारा अपनी मिथ्यात्व रूपी जड़ों को पुष्ट करता रहता है तब तक इसका संसार पल्लवित होता रहता है। यदि यह उस प्रकार की हवा, पानी और मिट्टी के द्वारा अपनी जड़ों को पुष्ट करना बंद कर दे तो इसका संसार वृक्ष तत्काल सूखने लग जायगा।"

बरगद को अपनी जड़ों को खोखला करने का उपाय प्राप्त हो गया। उसने उसी समय यह निश्चित कर लिया कि अब तक वह जमीन में दूर-दूर तक फैली हुई जड़ों के माध्यम से हवा, पानी और मिट्टी के उपजाऊ तत्त्वों को ग्रहण करता

रहा है वह उसे ग्रहण करना बिल्कुल ही बंद कर देगा। वह और भी आगे मुनिराज को सुनने लगा। मुनिराज कह रहे थे – "यद्यपि इस जीव ने अन्य अनेक प्रकार की छोटी-मोटी विपरीत मान्यताओं का त्याग तो अनेक बार किया जैसे कि – कोई भी रागी-द्वेषी देवी-देवता इस जीव का हित अथवा अहित नहीं कर सकते इसलिये इन्हें पूजने अथवा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक मात्र वीतराग सर्वज्ञ देव ही सच्चे देव हैं, उनके द्वारा बताया गया दिगम्बर जैनधर्म और नग्न दिगम्बर गुरु ही सच्चे हैं। वीतराग सर्वज्ञ अरहन्त परमात्मा भी इस जगत के कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। सभी अनादि अनन्त हैं।

परन्तु फिर भी अन्दर में पड़ी हुई सूक्ष्म विपरीत मान्यताओं का (अगृहीत मिथ्यादर्शन) त्याग इस जीव ने आज तक नहीं किया।

यद्यपि प्रत्येक जीव का स्वभाव पूर्ण शुद्ध है अनादि अनन्त है, मुक्त है, परिपूर्ण है, परन्तु फिर भी जीव ने इसको स्वीकार करने के बजाय अपने आपको पर्याय जितना एवं रागी-द्वेषी तथा अशुद्ध अपूर्ण एवं बंधा हुआ ही स्वीकार किया।

त्रिकाल एक रूप रहने वाले शुद्ध द्रव्य स्वभाव में स्वपना स्थापित करने के बजाय इस जीव ने अपनी पर्याय में उत्पन्न राग द्वेष मय क्षणिक वृत्तियों में ही स्वपना स्थापित किया अर्थात शुद्ध जीव तत्त्व में स्वपना स्थापित करने के बजाय पर्याय रूप आस्रव-बंध तत्त्व में स्वपना स्थापित किया इसलिये वे इसके उस शुद्धात्म द्रव्य की अनुभूतिपूर्वक अगृहीत मिथ्यादर्शन का त्याग आज तक नहीं हुआ।

इसलिये इस जीव को सर्वप्रथम इस अगृहीत मिथ्यादर्शन का त्याग करना चाहिये। मात्र गृहीत मिथ्यादर्शन को त्याग

करके ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये तथा अपने आप को सम्यक्त्वी नहीं मान लेना चाहिये।

यदि अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग नहीं किया तो समय रहते (इस भव में न सही तो अगले भवों में भी) यह गृहीत मिथ्यात्व फिर से प्रगट हो जायेगा। मुनिराज ने बरगद के नींचे लटकती हुई जड़ों की तरफ इशारा करते हुए जब मिथ्यात्व को संसार की जड़ कहा तो सभी श्रोता बरगद के पेड़ और उसकी जड़ों को देखने लगे। मुनिराज ने आगे कहा –"

"इस बरगद के जमीन के अन्दर फैली हुई जड़ें जब तक सलामत रहेंगी तब तक इसकी ये बाहर वाली जड़ें भी बढ़ती ही रहेंगी तथा कालान्तर में ये और वृद्धि को प्राप्त होती हुई नये-नये बरगदों का रूप ले लेंगी।....."

मुनिराज ने बरगद की जड़ों के उदाहरणपूर्वक जब समझाया तो सभी को अच्छी तरह से समझ में आ गया। बरगद को भी अच्छी तरह से समझ में आ गया। सभा विसर्जित हो गयी।

मुनिराज भी अन्यत्र विहार कर गये।

बरगद ने वैसा ही किया। उसने अपनी जमीन के भीतर फैली हुई जड़ों को खोखला करना प्रारम्भ कर दिया। उसने उसके माध्यम से पानी और उपजाऊ तत्त्वों को ग्रहण करना बिल्कुल ही बंद कर दिया। कोई उसकी जड़ों के ऊपर की मिट्टी को खोद कर ले जाता तो उसे काफी प्रसन्नता होती।

और एक दिन लोगों ने देखा कि वह विशालकाय बरगद का पेड़ सूख चुका है। वह बिल्कुल उजड़ चुका है। उसकी सारी जड़ें जमीन से बाहर को निकल आई हैं। लोगों ने सोचा – शायद किसी ने इसे मूँठ मार दी है। परन्तु नहीं, यह तो मोक्षमार्ग के यान पर सवार हो चुका था। एक दिन हवा का एक जोरदार झोंका आया और बरगद उखड़कर जमीन पर गिर गया और इसप्रकार से लम्बे समय से चले आ रहे उसके संसार का अन्त हो गया। वह दुःखों से सदा-सदा के लिए मुक्त हो गया। ●

एक तो यह कि – **भाग्य से अधिक और समय से पहले, किसी को कभी कुछ नहीं मिलता** और दूसरा यह कि – **न तो हम किसी के सुख-दुःख के दाता हैं, न भले-बुरे के कर्त्ता हैं और न कोई हमें भी सुख-दुःख दे सकता है, न हमारा भला-बुरा कर सकता है।**

राजा सेवक पर कितना भी प्रसन्न क्यों न हो जाये; पर वह सेवक को उसके भाग्य से अधिक धन नहीं दे सकता। दिन-रात पानी क्यों न बरसे, फिर भी ढाक की टहनी में तीन से अधिक पत्ते नहीं निकलते।

– सुखी जीवन, पृष्ठ–१६५

सुख का रहस्य

"बहन तितली! एक बात मेरी समझ में नहीं आती।" – भौंरे ने तितली से कहा।

"कहो क्या भला?" तितली बोली –

"वह सामनेवाला गुलाब का फूल है न! वह तो सदैव हँसता-मुस्कराता खिलता रहता है; परन्तु उसके पासवाला जो सूरजमुखी का फूल है, वह साँझ होते-होते ही मुरझा जाता है, उदास एवं दुःखी हो जाता है। ऐसा क्यों? क्या कारण है इसका?" – भौंरे ने पूछा।

"हाँ, बात तो तुम ठीक कहते हो, पर मेरी समझ में भी यह बात नहीं आ रही। क्यों न गुलाब के पास जाकर ही इसका समाधान प्राप्त कर लिया जावे?" – सोचते हुए तितली ने समाधान सुझाया।

"हाँ, हाँ; यही ठीक रहेगा।" – भौंरे ने कहा और फिर वे दोनों वहाँ से उड़ चले। गुलाब के फूल के पास जाकर उसकी एक टहनी पर बैठ गये।

"गुलाब महाशय! आपकी खुशी के रहस्य को हम जानना चाहते हैं। क्या कारण है कि काँटो के बीच में रहते हुए भी आप सदा हँसते-मुस्कराते खिलते रहते हैं? और वह बेचारा सूरजमुखी का फूल तो साँझ होते-होते ही उदास हो जाता है। कृपया बताइये न?" – नम्रतापूर्वक तितली ने पूछा।

"जो लोग पर के आश्रय से जीते हैं, परद्रव्यों में अपना सुख

खोजते हैं, उन्हें तो उदास होना ही पड़ता है; क्योंकि परद्रव्यों का परिणमन सदैव ही प्राणियों की इच्छाओं के अनुकूल नहीं हुआ करता। परसंयोगों का वियोग तो एक न एक दिन अवश्य होता ही है। इसके विपरीत जो प्राणी स्व के आश्रय से जीते हैं, निज के आश्रय से जीते हैं, वे सदा हँसते-मुस्कराते रहते हैं। उन्हें उदास नहीं होना पड़ता; क्योंकि निजस्वभाव तो सदाकाल ही अनुकूल है, अपने पास ही है, आप स्वयं ही है।

सूरजमुखी का फूल सूर्य के आश्रय से जीता है, सूर्य को ही उसने अपना सब कुछ मान रखा है, सूर्य में ही वह अपना सुख खोजता है; इसलिए सूर्य के अस्त होते ही बेचारा उदास हो जाता है। सूर्यास्त के साथ ही उसकी सारी खुशियाँ छिन जाती हैं।

जबकि इसके विपरीत मुझे ही देख लो न! मैं किसी भी परद्रव्य के आश्रय से अपना सुख नहीं मानता। एकमात्र अपने निज स्वभाव में ही सदाकाल मग्न रहकर अपने स्वयं के ही आनन्दरस का पान करता हूँ; इसलिए सदैव ही हँसता-खिलता-मुस्कराता नजर आता हूँ। मुझे परद्रव्यों का लक्ष्य ही नहीं है, फिर मेरे इर्द-गिर्द काँटे रहें तो भी क्या? और कोई मेरे रस को चूसे तो भी क्या? मैं तो सदाकाल अपने आनन्दरस में ही मग्न हूँ।

आप चाहें तो आप भी मेरी ही तरह स्वभावसन्मुख होकर, अन्तरोन्मुखी होकर स्वाश्रय से सदाकाल के लिए अपनी उदासी को दूर कर सकते हैं; क्योंकि आप स्वयं भी ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण आत्मतत्त्व हैं। ज्ञान और आनन्द आपके आत्मस्वभाव में कूट-कूट कर भरा हुआ है। आप अपनी तरफ देखिये तो सही, अपने को जानिये तो सही, पहिचानिये तो सही।"

जब हँसते-मुस्कराते हुए गुलाब ने जवाब दिया तो भौंरा और तितली आत्मस्वरूप को समझने की प्रेरणा प्राप्त करते हुए प्रसन्न होकर वहाँ से उड़ते हुए चले गये। ●

करनी का फल

एक मेमना जंगल में बहती हुई नदी की धारा से अपनी प्यास को बुझा रहा था कि तभी वहाँ से ऊपर की ओर कुछ दूरी पर एक भेड़िया भी आकर पानी पीने लगा। थोड़ा-सा पानी पी चुकने के बाद मेमना की तरफ देखते हुए गुर्राया –

"अबे ओ! देखता नहीं है? मैं जो पानी पी रहा हूँ, तू उसी पानी को गन्दा कर रहा है?"

मेमना थर-थर काँपने लगा – फिर भी हिम्मत जुटाते हुए बोला –

"महाशय आपका पानी मैं कैसे गन्दा कर सकता हूँ? पानी का बहाव तो आपकी तरफ से मेरी तरफ है। आपके द्वारा गंदलाया हुआ पानी मेरी तरफ तो आ सकता है; पर मेरे द्वारा गंदलाया हुआ पानी आपकी तरफ हरगिज़ नहीं जा सकता।"

"बकवास बन्द कर! छोटे मुँह बड़ी-बड़ी बातें बनाता है। तुने मेरा पानी गंदा किया है; अतः मैं तुझे मृत्युदण्ड दूँगा – भेड़िये ने आँख चढ़ाकर कहा।"

"आप मुझे मारना ही चाहते हैं तो भले मार डालिये साहब। आप बलवान हैं; कुछ भी कर सकते हैं; पर सचमुच मैंने आपका पानी गंदा (जूठा) नहीं किया।"

भेड़िये ने कहा – "अभी नहीं किया तो क्या हुआ? पिछले साल तो किया था न? तब तू ऊपर की ओर पानी पी रहा था और मैं नीचे की ओर।"

मेमना गिड़गिड़ाकर बोला – "साहब तब तो मेरा जन्म ही नहीं हुआ था। मैं तो अभी 6 माह का ही हूँ, मैंने एक वर्ष पहले पानी गंदा कैसे किया होगा?"

"अबे, ज्यादा जबान क्यों चलाता है? तू नहीं तो तेरी अम्मा होगी? मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं?"

"माँ की सजा बेटे को क्यों देते हो साहब? न्याय का पालन कीजिए न? खुशामद के स्वर में विनम्र होते हुये मेमने ने कहा।

भेड़िये ने मुस्कराते हुए मन में कहा – ये मुझे न्याय का पाठ पढ़ाने चला है। ठीक है, ठीक है, कहते-कहते भेड़िये ने मेमने को दबोच लिया और मारकर खा गया।

दूर, पर्वत की ऊँची चोटी पर बैठे हुए एक नग्न दिगम्बर मुनिराज और उनका एक तत्त्वजिज्ञासु शिष्य उक्त घटनाक्रम को घटित होते हुए देख रहे थे। भेड़िये द्वारा निर्दयता से मारते हुये देखकर दया से पीड़ित और बेचैन होते हुए शिष्य चिल्लाया – "हाय-हाय गज़ब हो गया। बेचारे को मार ही डाला। कितनी क्रूरता, कैसी अनहोनी बात है यह। घटना को देखकर शिष्य का तो रोम-रोम काँपने लगा; परन्तु मुनिराज पर कोई विशेष

प्रभाव नहीं पड़ा। सहजभाव से वे बोले – "कैसी अनहोनी? अनहोनी नाम की तो यहाँ कोई चीज ही नहीं है।" जो भी होता है सब होनहार के अनुसार ही होता है।

"माँ के द्वारा किये गये अपराध की सजा बेटे को? यह अनहोनी और अन्याय नहीं तो और क्या है महाराज?" आकुलित होते हुए शिष्य बोला।

"अपराध करें माँ-बाप और सजा भुगते उसका बेटा, ऐसा तो कभी होता ही नहीं है। भाई! तुम्हें पता नहीं, वास्तविकता तो कुछ और ही है" – मुनिराज ने कहा।

"वह क्या महाराज?" तत्त्वजिज्ञासु बोला।

"जिस मेमने को तुम बेचारा कह रहे हो वह अपनी करनी से ही अब बेचारा हो गया है। पिछले जन्म में यही मेमना एक बहुत बड़ा अपराधी रहा है।" किंचित् मुस्कराते हुए मुनिराज ने कहा।

"वह कैसे?" जिज्ञासु ने पूछा।

मुनिराज अवधिज्ञान के धनी थे। बोले – आज से लगभग सौ वर्ष पहले की बात है। इसी जंगल में एक खूँखार शेर रहता था। स्वभाव से ही क्रूर वह शेर प्रतिदिन जंगल के जानवरों को क्रूरतापूर्वक मारकर खा जाया करता था।

एक दिन एक भोली-भाली हिरनी अपने बच्चों की खोज में इधर-उधर घूम रही थी कि तभी शेर की नज़र उस हिरनी पर पड़ गयी। हिरनी को पकड़ने के लिये शेर भागा। आहट सुनकर हिरनी भी चौकन्नी हो गयी और शेर को अपनी तरफ आते हुए देखकर वह भी जान बचाकर भागी। आगे-आगे हिरनी और पीछे-पीछे शेर। हिरनी भागते हुए कहे जा रही थी – मुझे मत मारो, मुझे छोड़ दो, मेरा पीछा मत करो, मैं बड़ी परेशानी में हूँ, मेरे बच्चे कहीं खो गये हैं, पहले उन्हें ढूँढ लेने दो।

लेकिन शेर ने एक भी नहीं सुनी। काफी देर तक पीछा करने के बाद अन्ततः शेर ने हिरनी को पकड़ ही लिया। अन्त समय में भी हिरनी बहुत गिड़गिड़ाई – "मुझे छोड़ दो पहले मुझे बच्चों को ढूँढ लेने दो।" लेकिन शेर को किंचित् भी दया नहीं आयी और वह उसे चीर-फाड़कर खा गया।

जानते हो, फिर क्या हुआ?

वही हिरनी का जीव मरकर के कुछ अन्य पर्यायों (भवों) को धारण करने के पश्चात् इस समय यहाँ भेड़िये के रूप में उत्पन्न हुआ और वही शेर मरकर के इस मेमने की पर्याय में उत्पन्न हुआ है और अपने पूर्व बैर के कारण भेड़िये के द्वारा मारकर इस समय खाया गया है। इसी नदी के किनारे आते-आते शेर ने हिरण को दबोच लिया था।

"ओह! ये बात है!" महाराज के मुख से कहानी सुनने के पश्चात् शिष्य ने टिप्पणी की।

"हाँ, हाँ; यही बात है। ऊपरी तौर पर देखने से तो हमें यही नजर आता है कि मेमना बेचारा है और इसके साथ कितना अन्याय हुआ है; परन्तु हमें अच्छी तरह से यह नोट कर लेना चाहिये कि प्रकृति में कभी भी किसी के साथ कोई अन्याय होता ही नहीं है। सभी अपनी-अपनी करनी का फल भोगते हैं। चर्म-चक्षुओं से देखने पर हमें जहाँ अन्याय होता हुआ दिखाई देता है; वहाँ पर भी वास्तव में रहस्य कुछ और ही छुपा होता है। सभी को यहाँ पर अपने किये की ही सजा मिलती है। अकारण यहाँ कुछ भी नहीं होता।

कितनी ही बार यह जीव अपने से सबल पशुओं के द्वारा मार कर खाया गया है और कितनी ही बार सबल होकर अपने से निर्बल पशुओं को मार कर इसने खाया है।

जो अभी बलवान है, वह कभी आगे जाकर निर्बल होता

है और जो अभी निर्बल है, वही आगे जाकर बलवान होता है। प्रकृति का ऐसा ही नियम है। सुखी होना है तो निर्बलों को कभी भी सताना नहीं चाहिये।

बलवान अवस्था में स्वयं के द्वारा किये गये कुकर्मों के फल को भुगतने के लिए फिर कभी निर्बल होना भी तो आवश्यक ही है; ध्यान रखो, बलवान सदा बलवान नहीं रहता और निर्बल सदा निर्बल नहीं रहता।

जो आज बेचारा लगता है, वही कभी क्रूर था और जो आज क्रूर है वही कल को (इस भव का न सही तो अगले भव का) बेचारा है।

यह तो वस्तु का स्वरूप है। इसको यथार्थ जानने से ही सच्चे अर्थों में वीतरागता प्रगट हो सकती है। अन्यथा जिनके प्रति हमें अन्याय होता हुआ दिखाई देता है, उनके प्रति करुणा आती है, जो वास्तव में बैचेनी, अकुलाहट और दुःख स्वरूप ही है और जो अन्याय करते हुए दिखाई देते हैं, उनके प्रति द्वेष और क्रोध उत्पन्न होता है। इस तरह व्यर्थ में ही राग-द्वेष बढ़ता है। सहज ज्ञानपना प्रगट नहीं हो पाता।" मुनिराज ने कहा।

मुनिराज की तात्त्विक बातें सुनकर शिष्य प्रफुल्लित हो उठा। प्रसन्नतापूर्वक वह बोला –

"आप ठीक कहते हैं महाराज। कृपया इस सम्बन्ध में थोड़ा और स्पष्टीकरण कीजिये न। उदाहरण देकर समझाइये ना।"

"उदाहरण! अरे इस घटना को ही लीजिये न। भेड़िये के द्वारा मेमने के मारे जाने पर तुम्हें कितना कष्ट हुआ। भेड़िये के प्रति तुम क्रोधित हो उठे। तुम्हारा मन दुःख और ग्लानि से भर उठा। तुम छटपटाने लगे; परन्तु हम तो सामान्य ही बने रहे। यह घटना सिर्फ हमारे ज्ञान का ज्ञेय बनकर ही रह

गयी, न तो हमें हर्ष ही हुआ और न ही विषाद।

क्यों हुआ ऐसा? क्या कारण है इसका?

इसका एक मात्र कारण यही है कि तुम कर्मसिद्धान्त से अनभिज्ञ हो; जबकि हमें इस बात का दृढ़ श्रद्धान है कि यहाँ जो कुछ हो रहा है, इसके कोई न कोई ठोस कारण जरूर हैं, यहाँ अकारण कुछ भी नहीं होता। यहाँ जो कुछ भी घटित हो रहा है, वह सब होने योग्य ही हो रहा है, अपने-अपने कारण से ही हो रहा है, अपनी-अपनी स्वयं की निज योग्यता से ही हो रहा है। प्रत्येक द्रव्य अपनी चाहे जैसी भी अवस्था के लिये स्वयं ही जिम्मेदार है। जो कुछ भी हुआ अथवा हो रहा है वैसा होने की पात्रता स्वयं उस द्रव्य में ही विद्यमान है। इसीलिये ऐसा हो रहा है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की परिणति को हम भिन्न-भिन्न ही देखते जानते हैं; इसलिये न तो हमें किसी के प्रति राग ही होता है और न ही किसी के प्रति द्वेष। मात्र ज्ञातापना ही प्रगट होता है।

वीतरागी बनने के लिये सर्वप्रथम ऐसा ज्ञान और श्रद्धान का होना ही अत्यन्त कार्यकारी है। सभी ज्ञानियों में ऐसा ज्ञान और श्रद्धान पाया जाता है, जिसके बल से वे वीतरागी होते हैं।

तत्त्व के अभ्यास के बल से तुम भी ऐसा ज्ञान और श्रद्धान प्रगट करो। तुम्हारा कल्याण जरूर होगा।" मुनिराज ने आशीर्वादात्मक मुद्रा में शिष्य को कहा तो शिष्य का हृदय गद्‌गद हो उठा।

मन ही मन तत्त्व-अभ्यास की भावना को दृढ़ करते हुए तथा मुनिराज के पास फिर आने का संकल्प करते हुए मुनिराज को प्रणामपूर्वक शिष्य अपने घर की तरफ चल दिया। मुनिराज भी अपने ज्ञान-ध्यान में मग्न हो गये। ●

अध्रुव के उस पार

कई वर्षों से मैं यहाँ बैठता आ रहा हूँ। जी हाँ! यहीं, इसी जगह पर, इसी स्टूल पर। इस स्टूल की कहानी भी उतनी ही पुरानी है, जितनी पुरानी मेरे यहाँ पर बैठने की कहानी। मेरी याददाश्त बहुत तेज है, मुझे याद है शुरु-शुरु में तो यह एकदम नया था। मेरे घर के पिछवाड़े में पड़ी हुई लकड़ियों ने ही इस स्टूल का रूप लिया था। एक सफेद बालोंवाला बुड्ढा बढ़ई अपने छः सात वर्षीय पोते के साथ आकर दो दिनों की मेहनत के बाद इसे बना गया था। और तब से गाकर आजतक मैं इस स्टूल पर बैठता आ रहा हूँ।

मैं देखता हूं – जब से यह बना है, तभी से धीरे-धीरे पुराना होता जा रहा है, पुरानेपन की ओर अग्रसर होता जा रहा है और आज तो यह पुरानेपन की अपनी चरम सीमा पर है। इसके ऊपर बैठते ही चरमराने लगता है। कभी-कभी तो चिउंटी भी भर लेता है, फिर भी मैं इसके ऊपर बैठता हूँ और कुछ न कुछ सोचता ही रहता हूँ। इसके ऊपर बैठकर अपने आसपास को टटोलता रहता हूँ। ऐसा करने की मुझे शुरु से ही आदत पड़ी हुई है।

मैं सोचता हूँ – कभी यह स्टूल, अपनी इस स्टूलपने की अवस्था को भी छोड़कर किसी अन्य नवीन अवस्था को (पर्याय को) प्राप्त कर लेगा। इसके परमाणु बिखर-बिखर कर न मालूम कहाँ चले जायेंगे? कभी यही परमाणु वृक्ष के आकार (अवस्था) रूप परिणमित हुए थे। फिर स्टूलरूप परिणमित हो गये और फिर कभी अपनी इस अवस्था को भी छोड़ देंगे। पर स्वयं तो शाश्वत ही रहेंगे। अपनी अवस्थाओं को सतत् बदलते हुए भी अपने मूलस्वभाव को तो ये परमाणु कभी

छोड़नेवाले हैं ही नहीं। द्रव्यस्वभाव से सब नित्य होते हुए भी पर्यायस्वभाव से यहाँ कुछ भी तो नित्य नहीं है।

मैं सोचता हूँ – प्रत्येक वस्तु कायम रहकर पलटती ही रहती है। अपने मूलस्वभाव को कायम रखते हुए पलटते रहना ही इसका धर्म है।

यहाँ कुछ भी तो नित्य नहीं है। सब कुछ क्षणभंगुर है, नाशवान है।

मैं जहाँ बैठता हूँ, उसके सामने ही एक बड़ा खुला मैदान है। मैदान से देखता आ रहा हूँ – तालाब की पाल का धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है। तालाब की पाल तो धीरे-धीरे छोटी होती जा रही है; परन्तु साथ ही उसके पासवाला एक छोटा-सा वृक्ष धीरे-धीरे बड़ा होता जा रहा है। एक समय था जबकि तालाब की उस पाल पर दूर-दूर तक आम एवं महुए के कई-कई पेड़ थे; परन्तु अब तो कुछ वृक्ष ही शेष बचे हैं। धीरे-धीरे सब नष्ट होकर न मालूम कहाँ खो गये।

मैं सोचता हूँ – एक दिन ऐसा भी आयेगा जब सभी वृक्ष नष्ट हो जायेंगे मात्र अकेली पाल ही सूनी-सूनी रह जायेगी। परन्तु नहीं, पाल के उधर सामने ही दो-चार छोटे-छोटे वृक्ष मुझे कुछ सालों से पनपते हुए नजर आ रहे हैं। वे भी अब तो धीरे-धीरे बड़े होते जा रहे हैं। उधर एक और कुछ कटीली झाड़ियाँ उग आयी हैं, मुझे याद है – कुछ बरसों पहले वहीं पर गुलाब का एक झाड़ था।

उधर सामनेवाला एक पुराना झोपड़ा बिखरा जा रहा है। उसकी दीवारें एक-दो दिनों से छोटी होती जा रही हैं, जबकि उसके पास में ही एक पक्का मकान बनाया जा रहा है, दिनोंदिन उसकी दीवारें ऊँची होती जा रही हैं।

मैं सोचता हूँ – सचमुच यहाँ कुछ भी तो स्थिर नहीं है,

ध्रुव नहीं है, कुछ भी तो नित्य नहीं है, सब कुछ अनित्य है, अस्थिर है, अध्रुव है।

मैं सोचता ही रहता हूँ कि तभी मेरी दृष्टि सड़क के ऊपर से गुजरती हुई एक बुढ़िया के ऊपर पड़ती है। मैं सोचता हूँ – "यह बुढ़िया पहले कैसी थी और अब कैसी हो गयी है।

पहले तो यह जवान और सुन्दर थी। अपनी जवानी के दिनों में जब यही मालिन फूल लेकर यहाँ से निकला करती थी तो अपनी सुन्दरता के कारण लोगों को आकर्षित किये बिना नहीं रहती थी। उस सामनेवाले पान की दुकान की तरफ से तो उसे देखकर सीटियाँ भी बजने लगती थीं। वहाँ पर बैठे रहनेवाले लोग इसे देखकर अक्सर घूरते रहते थे। ताने मारते रहते थे; पर आज इसको देखने के लिए भी कोई तैयार नहीं है। कितना बदल गया है यहाँ पर सब कुछ। वह दुकान भी तो कितनी बदल गयी है। उसके ऊपर बैठने वाला मालिक भी नया, वहाँ पर बेकार बैठे रहनेवाले चेहरे भी नये, मुझे याद

है – वहाँ पर पहले बेकार बैठे रहनेवाले लोगों में से कितने ही तो इस दुनिया से जा चुके हैं। कितने ही जाने की तैयारी कर रहे हैं। अभी बिस्तर में पड़े-पड़े सड़ रहे हैं।

मैं सोचता ही चला जाता हूँ कि तभी मेरे सामने से दो-चार छोटे-छोटे बच्चे निकलते हैं। एकदम नये-नये। मैं जानता हूँ ये हमारे ही मोहल्ले के हैं। किसके हैं? यह पता नहीं। मैं सोचता हूँ – ये यहाँ नये-नये अस्तित्व में ही आये हैं। पुराने लोग यहाँ से जाते रहते हैं, जबकि नये-नये अस्तित्व में आते रहते हैं। कल यही पुराने हो जायेंगे। सचमुच यहाँ सभी कुछ तो परिवर्तनशील है। कुछ भी तो स्थिर नहीं। कुछ भी तो ध्रुव नहीं।

मैं ऐसे ही खोया रहता हूँ कि तभी सामनेवाले तालाब की पाल के ऊपर से मुझे बारात आती हुई नजर आती है। तालाब के उस पार आदिवासियों के छोटे-छोटे गाँव बसे हुए हैं। उन गाँवों से यहाँ आने का मार्ग उस तालाब की पाल के ऊपर से ही होकर तो गुजरता है। गाती हुई, नाचती हुई और बजाती हुई बारात सामने के चौक में आकर कुछ देर के लिये रुकती है तो क्षणभर पहले का शान्त वातावरण कोलाहल में परिवर्तित हो जाता है। पानवाली दुकान पर भीड़ बढ़ जाती है। देखनेवालों का जमघट आस-पास जमा हो जाता है। और फिर कुछ ही समय बाद जो बारात एक दिशा से कुछ ही समय पूर्व आती हुई नजर आती है। गाने-बजाने की आवाजें धीरे-धीरे मेरे कानों से दूर होती जाती हैं। वातावरण में फिर से वही शान्ति।

मैं सोचता हूँ – यहाँ का कोलाहल भी क्षणभंगुर और शान्त वातावरण भी यहाँ का क्षणभंगुर। गर्मी की तपन भी यहाँ क्षणभंगुर और ठंडक की शीतलता भी यहाँ की क्षणभंगुर।

धूप भी यहाँ की क्षणभंगुर और छांव भी यहाँ की क्षणभंगुर। दिवस का उजियाला भी क्षणभंगुर और रात्रि का अंधियारा भी क्षणभंगुर। नाशवान अध्रुव।

मैं सोचने लगता हूँ – यदि जीवन की खुशियाँ भी यहाँ की क्षणभंगुर हैं तो मौत का मातम भी तो यहाँ का क्षणभंगुर ही है। यदि सुखों की उजली छटा भी यहाँ की क्षणभंगुर है तो दुखों की काली घटा भी तो यहाँ की क्षणभंगुर ही है। कुछ भी तो यहाँ नित्य नहीं है।

ऐसे ही सोचते-सोचते मैं अपने बारे में सोचने लगता हूँ, अपने परिवारवालों के बारें में सोचने लगता हूँ। मैं सोचने लगता हूँ – एक दिन सब कुछ नष्ट हो जायेगा। यह भरा-पूरा परिवार का मेला एक दिन देखते ही देखते बिखर जायेगा। या तो ये सब मुझे छोड़कर चले जायेंगे या फिर मुझे ही एक न एक दिन इन सबको छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जाना पड़ेगा। मेरे दादा-दादी, नाना-नानी, माता-पिता आदि सभी तो एक दिन मेरे देखते ही देखते एक-एक करके यहाँ से चले गये। कल को मेरी पत्नी भी मुझे छोड़कर यहाँ से चली जायेगी। जो पत्नी आजतक मुझसे नाता स्थापित किये हुए है, वही पत्नी कल मरने के बाद किसी दूसरे के साथ नाता स्थापित कर लेगी। कोई अन्य प्राणी उसके कुटुम्बी बन जायेंगे। एक समय ऐसा भी आयेगा कि अगले किन्हीं जन्मों में आज की मेरी यही प्यारी पत्नी मुझे पहचानने से भी इंकार कर देगी। वह मुझे पहचान भी नहीं पायेगी, मैं भी उसे पहचान नहीं पाऊँगा।

अब तो मेरी उमर भी कितनी बची होगी। मेरे बुढ़ापे के लक्षण तो धीरे-धीरे प्रगट होने लगे हैं। कहीं-कहीं सफेद बाल दिखने लगे हैं। शरीर धीरे-धीरे दुबला होता जा रहा है।

हाथों की और पैरों की हड्डियाँ दिखाई देने लगी हैं। चेहरा भी कुछ थोड़ा-थोड़ा अन्दर को घुसने लगा है। मैं कितना दुबला-पतला हो गया हूँ, पहले तो मैं एकदम हट्टा-कट्टा जवान था। एक दिन ऐसा भी आयेगा कि मैं बिल्कुल बूढ़ा हो जाऊँगा। मेरे बाल सफेद झख हो जायेंगे। चेहरा पोपला हो जायेगा, कमजोरी के कारण से हाथ-पैर थर-थर काँपने लगेंगे। ओफ! बुढ़ापे में कितने दुःख उठाने पड़ेंगे। एक दिन ऐसे ही तड़फते-तड़फते मैं मर जाऊँगा, मुझे फिर से कहीं जन्म धारण करना पड़ेगा। हाय! मैं मर जाऊँगा।

और ऐसे ही पर्यायों की अनित्यता के बारे में सोचते-सोचते मैं दुःखी होने लगता हूँ। मुझे घुटनसी महसूस होने लगती है। मैं चेहरे पर असीम दुःख नहीं चाहता। मैं सोचने लगता हूँ – "मेरी यह चिन्तन की दिशा सही नहीं है।" और इसके साथ ही मैं अपने चिन्तन की दिशा ही बदल देता हूँ। मैं सोचता हूँ – पर्यायों का तो स्वभाव ही ऐसा है। उत्पन्न होने का और फिर नष्ट होने का और फिर उत्पन्न एवं नष्ट होने का तो उनका स्वभाव ही है। फिर उनके लक्ष्य से व्यर्थ का हर्ष एवं विषाद कैसा?

मैं सोचता हूँ – वस्तुतः पर्यायों के आश्रय से सुख-दुःख हैं ही कहाँ? वे रहें अथवा नष्ट होवें, उनसे मुझे प्रयोजन ही क्या? वे रहें तो भी क्या? और न रहें तो भी क्या?

और ऐसे ही सोचते-सोचते कुछ समय पहले का मेरा दुःख दूर होने लगता है, मुझे शान्ति का अनुभव होने लगता है; परन्तु फिर भी मुझे वो शान्ति नहीं मिल पाती जो मैं चाहता हूँ। मेरी उदासी पूर्णरूप से दूर नहीं हो पाती। मैं तो पूर्णरूप से शान्ति पाना चाहता हूँ।

इसलिये अब मैं अपनी चिन्तन की दिशा को पूर्णरूप से

ही बदल देता हूँ। समस्त ही अनित्य पर्यायसमूह की प्रक्रिया के उस पार विराजमान अपने नित्य-ध्रुव द्रव्यस्वभाव पर चला आता हूँ।

मैं इस बात को अच्छी तरह से जानता हूँ कि पर्यायों की अनित्यता का ज्ञान तो मात्र उन पर्यायों के ऊपर से दृष्टि हटा लेने के लिये ही है। अनित्य पर्यायों के चिन्तन में ही उलझने के लिये नहीं। अनित्य पर्यायों का ज्ञान तो मात्र जानने के लिये ही है, वहाँ पर जमने एवं रमने के लिये नहीं। जमने एवं रमने के लिये तो एकमात्र अपना नित्य द्रव्य स्वभाव ही है।

मैं इस बात को अच्छी तरह से जानता हूँ कि अनित्य पर्यायरूपी लहरों की चंचलता के उस पार नित्य ध्रुव द्रव्य स्वभावरूपी शांत महासागर ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है। वह नित्य ध्रुव, पर्याय निरपेक्ष द्रव्यस्वभाव महासागर पूर्ण शुद्ध है, अनादि-अनन्त है, ज्ञान और आनन्द का घनपिण्ड है तथा पर्यायों के प्रवेश से रहित विज्ञानघन है। पूर्ण है, अखण्ड ध्रुव अभेद है। वह एक नित्य ध्रुव द्रव्यस्वभाव महासागर ही जमने एवं रमने के लिये है, वही एक सदैव अनुभव करने योग्य है। वही एक पूर्ण सुख एवं पूर्ण शान्तिरूपी रत्नों को देनेवाला अनमोल महासागर है। अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है। अनन्त प्रभुतासम्पन्न महाप्रभु है।

जी हाँ! मैं इस बात को अच्छी तरह से जानता हूँ और इसलिए अब मैं अनित्य पर्यायों पर से दृष्टि हटाकर अपने नित्य ध्रुव द्रव्यस्वभाव महासागर पर चला आता हूँ, उसी को लक्ष्य बनाकर सोचने लगता हूँ, मन ही मन बोलने लगता हूँ – वस्तुतः मैं तो सदा ही एकरूप बना रहनेवाला त्रिकाली ध्रुवतत्त्व हूँ। न तो कभी मैं जन्मा ही हूँ और न ही कभी मरूँगा फिर दुःख कैसा? न तो मैं कभी जवान ही हुआ हूँ और न ही

कभी मैं बूढ़ा हो जाऊँगा। जवानीपना और बूढ़ापना दुबलापन और मोटापन, ये सब तो शरीर की अवस्थाएं (पर्यायें) हैं। मैं इन अवस्थाओं रूप हुआ ही कब हूँ। शरीर की इन अवस्थाओं रूप तो कभी मैं हुआ ही नहीं; परन्तु शरीरादि परद्रव्यों की पर्यायों के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाली स्वयं की राग-द्वेष रूपी विकारी पर्यायों रूप भी कभी मैं हुआ नहीं।

जब शरीर की क्षणिक अवस्थाओं एवं स्वयं में ही उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेष मय शुभाशुभ विकारी वृत्तियों (पर्यायों) तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल वृत्तियों के साथ भी परमार्थ से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं, तब स्त्री-पुत्र, धन-सम्पदा आदि पर द्रव्यों की क्षणिक अवस्थाओं के साथ तो मेरा सम्बन्ध ही क्या?

मैं तो शरीरादि समस्त ही परद्रव्यों एवं राग-विराग आदि स्वपर्यायों से भी पृथक् ठोस विज्ञानघन त्रिकाली ध्रुव आत्म तत्त्व हूँ। बना बनाया भगवान हूँ। कृतकृत्य हूँ, उसमें तो कुछ फेरबदल करना ही नहीं है। उसमें तो कुछ फेरबदल होगा ही नहीं फिर चिन्ता कैसी? दुःख कैसा? यदि स्त्री-पुत्र, मित्र, शरीर आदि परद्रव्यों की अवस्थाएं बदलें तो भले ही बदलें। वे नाश को प्राप्त होते हैं तो भले ही होवें। मुझे इससे क्या? मेरा तो कभी नाश होता ही नहीं।

मैं तो जन्म-मरण से रहित ऐसा अजर-अमर त्रिकाली ध्रुव तत्त्व हूँ, परिपूर्ण हूँ। न तो उसमें कुछ आना है और न ही उसमें से कुछ जाना है।

और ऐसे ही पर्याय-निरपेक्ष निज नित्यध्रुव त्रिकाली द्रव्यस्वभाव महासागर के बारे में सोचते-सोचते मेरा सारा दुःख क्षणभर में ही भाग खड़ा होता है। मेरा आनन्द बढ़ने लगता है। मेरी समस्त ही वृत्तियाँ उस ध्रुवस्वभाव महासागर में एकाकार सी होकर निराकुल आनन्द रत्नों को प्राप्त करने

लगती हैं।

कुछ ही समय व्यतीत हो पाता है कि तभी मेरे कानों से मेरी पत्नी के पुकारने की आवाज टकराती है –

"सुनते हो जी पहले खाना खालो। फिर बैठे-बैठे सोचते रहना। अन्धकार तो होने को आया।"

"मैं अपनी घड़ी देखता हूँ। शाम के 6.30 होने को आये, 7.00 बजे अंधकार हो जाता है; फिर मैं..... इसलिये खेद के साथ भोजन के लिये उठ खड़ा होता हूँ। सोचता हूँ – क्या परेशानी है? खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना। कभी खाने के परिणाम तो कभी सोने के तो कभी पीने के कभी कमाने के परिणाम तो कभी घूमने-फिरने देखने के। कभी क्या करने के तो कभी क्या करने के? आखिर कबतक बने रहेंगे ये परिणाम? इनमें से कोई भी परिणाम तो सुखरूप नहीं है, कहीं भी तो चैन नहीं है।"

और ऐसे ही इसप्रकार से इन विकारी परिणाम (पर्यायों) के ऊपर दृष्टि चली जाने से एक बार मैं फिर परेशान होने लगता हूँ। मुझे आकुलता होने लगती है; परन्तु अब मैं शीघ्र ही सम्भल जाता हूँ।

पर्यायों के ऊपर जाती हुई दृष्टि पर मैं शीघ्र ही अंकुश लगाता हूँ और उसे (दृष्टि को) ध्रुव द्रव्यस्वभाव की तरफ मोड़ देता हूँ। मेरी वृत्तियाँ एक बार फिर से ध्रुव द्रव्यस्वभाव के सम्मुख होने लगती हैं और त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में ही स्थापित किया हुआ मेरा अहं (सम्यग्दर्शन) बोलने लगता है।

खाने-पीने की इन क्रियाओं में और इन विभिन्न प्रकार के परिणामों में मैं हूँ ही कहाँ? और मेरे में ये परिणाम कहाँ? इनसे मेरे को हानि कैसी? ये रहें तो भी क्या और न रहें तो भी क्या? मैं तो त्रिकाली-ध्रुव मात्र ज्ञायक तत्त्व हूँ। सदा ही इन क्षणिकवृत्तियों

से अप्रभावी ऐसा ठोस विज्ञानघन आत्मतत्त्व हूँ।

और ऐसे ही ध्रुवतत्त्व की डोर को थामे हुए एक अचिन्त्य शान्ति का अनुभव करते हुए मैं भोजन करने लगता हूँ।

चाहता हूँ कि ऐसे ही सदा-सदा के लिये मैं अपने ध्रुव तत्त्व की डोर को अपने हृदयरूप (दृष्टिरूपी) हाथों में थामे रहूँ।

सोचता हूँ – एक वे लोग हैं, जो त्रिकाली ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा की सत्ता को ही स्वीकारना नहीं चाहते, उसे समझना ही नहीं चाहते, एक मैं हूँ जो उसी की डोर को सदा-सदा के लिये थामे रखना चाहता हूँ। उसी में सदा-सदा के लिये जमे एवं रमे रहना चाहता हूँ। कितनी विषमतायें हैं यहाँ पर।

खैर! वे भी हैं तो त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मतत्त्व ही न! कभी न कभी तो स्वयं को समझेंगे ही।

ऐसे ही मैं काफी लम्बे समय तक सोचता रहता हूँ और अध्रुव के उस पार छिपे हुये ध्रुवतत्त्व का अनुभव करता रहता हूँ। उसी स्टूल पर बैठकर; जी हाँ! उसी टूटे-फूटे चर-मराते हुए स्टूल पर बैठकर उसी बरामदे में। ●

गम्भीर, विचारशील और बड़े व्यक्तित्व की यही पहचान है कि वे नासमझ और छोटे व्यक्तियों की छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नहीं होते, किसी भी क्रिया की बिना सोचे-समझे तत्काल प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते। अपराधी पर भी अनावश्यक उफनते नहीं हैं, बड़बड़ाते नहीं हैं; बल्कि उसकी बातों पर, क्रियाओं पर शान्ति से पूर्वापर विचार करके उचित निर्णय लेते हैं, तदनुसार कार्यवाही करते हैं, और आवश्यक मार्गदर्शन देते हैं।

– इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-३८

कूप मण्डूक को जगी जिज्ञासा

गहरे चौड़े कूँए के अन्दर रहने वाले कूपमण्डूकों में चर्चा छिड़ी हुई थी। एक कह रहा था –

"कुल मिलाकर ये दुनिया इतनी ही है, जितनी हमें अपनी आँखों से दिखाई दे रही है।"

"क्या बात करते हो? ऐसा नहीं है। इसके (कुँए के) बाहर भी लम्बे-चौड़े विश्व का अस्तित्व होना चाहिये" – एक मेंढ़क बोला।

"यह तो सिर्फ आपका एक ख्याली ख्वाब है। ख्याली धारणाऐं बना लेने से कुछ नहीं होता। आप कल्पनाऐं करने के लिए स्वतन्त्र हैं। आप कुछ भी कल्पनाऐं कर लीजिए न! आपको कौन रोकता है।" – एक कछुआ बोला।

"रहते होंगे हमें इससे क्या? हमें तो अपनी मौज-मस्ती से मतलब है" – एक छोटी सी मछली उछलते हुए बोली और पानी के अन्दर गहरे जाकर अन्य मछलियों के साथ क्रीड़ा करने लगी, मौज-मस्ती करने लगी।

इसकी बात पर विशेष ध्यान न देते हुए एक अन्य वैज्ञानिक किस्म का मेंढ़क अत्यन्त ही गम्भीर होते हुए बोला –

"साथियों, रोजाना सुबह के समय में अपने इस जल की ऊपरी सतह पर कुछ जोर-जोर से टकराने की आवाजें आती हैं, फिर गुडगुडगुडSSS की आवाजें आती हैं और फिर दूर बहुत ऊपर कुछ देर के लिए टरडमरड-टरडमरड के शब्द सुनाई देते रहते हैं। ये सब क्या है? कहाँ से आती हैं ये आवाजें? क्या ये आवाजें हमारे लिए अभी भी रहस्य का विषय नहीं बनी हुई हैं? क्या इन सब बातों से यह सिद्ध नहीं होता कि अपनी इस दुनिया के (कुँए के) बाहर भी कोई दूसरी

दुनिया है, जहाँ के प्राणी हमारे यहाँ सुबह के समय में हस्तक्षेप करते हैं। क्या ऐसे समय में कोई भी जल की ऊपरी सतह पर जाने की हिम्मत कर पाते हैं?

"साथियो, मुझे तो ऐसा लगता है कि सुबह के समय में वे लोग हमारे यहाँ से जल चुराकर ले जाते हैं। हमारे यहाँ से इसी तरह जल की चोरी होती रही तो हमारा क्या होगा?"

सुबह के समय उस कूए में से महिलाऐं पानी भरती थीं। जल की सतह से बाल्टी के टकराने और रस्सी से खींचने पर टरडमरड की जो आवाजें आती थी, इन्हीं आवाज़ों को सुनकर मेंढ़क ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी।

एक अन्य वैज्ञानिक किस्म का मेंढ़क बोला – "और साथियों यदि आप में से किसी ने कभी ध्यान से सुनने की कोशिश की हो तो आपको इस बात का आभास जरूर हुआ होगा कि दोपहर के समय में बहुत दूर ऊपर की ओर घर्र-घर्र की आवाजें सुनाई देती है। लगभग एक घन्टे तक ऐसी आवाज लगातार निकलती रहती है फिर अचानक वो आवाज गुम हो जाती है। यदि आप में से किसी ने नोट किया हो तो उस समय ऐसा लगता है जैसे हमारे इस जल में कम्पन-सी पैदा होती रहती है और हमारा जल स्तर काफी नीचे होता जा रहा हो।

यद्यपि स्थूल दृष्टि से ये सब बातें हमारी ख्याल में नहीं आ पाती हैं; पर ध्यान लगाकर देखने और सुनने से इन बातों का आभास जरूर होता है।

क्या है ये सब? कहाँ से आती हैं ये आवाजें?

साथियो! मुझे तो ऐसा लगता है कि ये किसी मशीन के चलने की आवाज है। बहुत सम्भव है कि किसी मशीन के जरिये किसी दूसरी दुनियाँ (ग्रह) के लोग हमारे यहाँ से बहुत

बड़ी मात्रा में जल की चोरी करते रहते हैं। जल स्तर में कमी होने का यही कारण हो सकता है।

इन सब बातों से तो यही सिद्ध होता है कि इस दुनिया के अलावा भी कोई अन्य दुनियाँ है जहाँ पर हमसे भी ज्यादा शक्तिशाली और बुद्धिमान प्राणी रहते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में वे हमसे भी ज्यादा तरक्कीशुदा हैं।"

कुएँ के अन्दर वाटर-पम्प लगा हुआ था। दोपहर के समय नगर की टंकी को पानी सप्लाई किया जाता था। जिसकी आवाज और अंजाम को सुन-देखकर उस मेंढक ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी।

"तब तो साथियो! वो दिन दूर नहीं जब किसी अन्य ग्रह के लोग हमारे यहाँ कदम रख चुके होंगे और हमें तबाह कर चुके होंगे।" – एक अन्य मेंढ़क ने आशंका जताई।

"अरे क्यों डराते हों व्यर्थ में? कोई दूसरी दुनिया-वुनिया नहीं है। सब कोरा भ्रम है। किसने देखा है अपनी आँखों से?" एक देहाती किस्म का मोटा तगड़ा मेंढ़क बोला और अरुचि दिखाते हुए वहाँ से चला गया।

एक मछली बोली – "देखो भाई! दूसरे विश्व की संभावना से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। अभी पिछले दिनों ही अपने यहाँ से एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें एक बात का उल्लेख किया गया था कि – **किसी दूसरे विश्व के एक प्राणी का हमारे इस विश्व में (कुँए में) दूर तक प्रवेश।** प्राणी की शक्ल-सूरत का वर्णन करते हुए उसमें यह भी लिखा था कि – "इस प्राणी के दो पंख होते हैं। ये प्राणी पंखों की सहायता से उड़ता है, इसके दो छोटे-छोटे पैर होते हैं। एक चोंच होती है चोंच के कुछ ऊपर दो छोटी-छोटी आँखें होती है।"

उस लेख में लिखा था कि – "यह प्राणी कौन-से ग्रह

का है, इसके बारे में अभी तक ठीक-ठीक नहीं जाना जा सका है; लेकिन हमारे वैज्ञानिक इस बात का पता लगाने की दिशा में प्रयासरत है। वे इस प्राणी को धर-दबोचने की योजना भी बना रहे हैं। वे इस विचित्र प्राणी को यदि कैद करने में सफल रहते हैं तो दूसरी दुनिया के बहुत से रहस्यों के खुलने की संभावना है।" – एक वैज्ञानिक पत्रिका का हवाला देते हुए वह मछली बोली।

"अरे वाह! तब तो हमारे यहाँ का विज्ञान और वैज्ञानिक तरक्की के क्षेत्र में बहुत ही आगे बढ़ते जा रहे हैं। यह तो एक बहुत ही अच्छी बात है।" – उसकी बात सुनकर एक अन्य मछली ने टिप्पणी की।

वहीं एक अन्य मछली आशंकित होते हुए बोली –

"लेकिन हमारे वैज्ञानिक सच बोल रहे हैं, इस बात की क्या गारन्टी है। हो सकता है हम लोगों को बेवकूफ बनाने के लिये ही ऐसी बातें प्रकाशित होती रहती हों।"

उन दोनों की बातें सुनकर एक धार्मिक किस्म का मेंढ़क बोला – इसमें झूठ बोलने जैसी तो कोई बात नहीं है; लेकिन साथ ही साथ वैज्ञानिकों ने कोई बहुत बड़ी उपलब्धि हासिल कर ली हो ऐसी भी कोई बात नहीं है; क्योंकि ये सब बातें तो सर्वज्ञ-वीतराग प्रणीत शास्त्रों में पहले से ही लिखी हुई हैं।

अपने यहाँ के धर्म ग्रन्थों एवं पुराणों में इन सब बातों का उल्लेख है। भरत क्षेत्र है, विदेह क्षेत्र है, हेमवत है, हरी क्षेत्र है, रम्यक्, हैरण्यवत, ऐरावत आदि क्षेत्र हैं, ये सब संख्या में पाँच -पाँच हैं अर्थात् पाँच भरत हैं, पाँच ऐरावत हैं आदि। ऊपर सोलह स्वर्ग आदि हैं तथा नीचे सात नरक हैं। इसके अलावा असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है।

मनुष्य, देव, नरक, तिर्यंच गतियों का वर्णन शास्त्रों में

पाया जाता है। पुण्य-पाप एवं उनके फल में मिलनेवाली विभिन्न प्रकार की पर्यायों (योनियों) का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है। हमारी गणना तिर्यंच गति के जीवों में होती है। इन सब बातों का अस्तित्व है। हमें तो पहले से ही इन सब बातों का श्रद्धान है।

तो क्या आप भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि वैज्ञानिकों ने पंखोंवाले जिस प्राणी का जिक्र किया है वह बिल्कुल सत्य है? क्या आप भी विज्ञान को मानते हैं? – पत्रकार किस्म की एक मछली ने प्रश्न किया।

"अरे भई! इसमें न मानने जैसी क्या बात है? जब धर्म ग्रन्थों में चौरासी लाख योनियों का जिक्र है तो इनमें से किसी न किसी योनि का कोई नया जीव वैज्ञानिकों ने देखा ही होगा। इसमें सन्देह की क्या आवश्यकता है? जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को और सर्वज्ञता को माने, वह विज्ञान को क्यों नहीं माने?

विज्ञान में भी आखिर पड़ा हुआ तो ज्ञान ही है। वैज्ञानिक चमत्कार भी सब हैं तो ज्ञान के ही चमत्कार न?

धर्म और विज्ञान में कोई विरोध तो है नहीं; परन्तु इतना विशेष है कि धर्म सर्वज्ञता पर आधारित है; जबकि विज्ञान अल्पज्ञता पर आधारित है। इसलिये विज्ञानप्रदत्त खोज और ज्ञान को सर्वथा नकारा भी नहीं जा सकता और न ही उसे अन्तिम सत्य भी माना जा सकता है" – वहीं बैठा धार्मिक किस्म का मेंढक बोला।

"अरे भई! कैसा धर्म और कैसा विज्ञान? पुण्य-पाप, द्वीप-समुद्र और ग्रह-नक्षत्र किसने देखे हैं ये सब? सिर्फ लोगों को बुद्धु बनाने की बाते हैं। जो कुछ आँखों से दिखाई देता है, वही सत्य है; इसके अलावा और कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है वो सब यही है। खाओ-पीओ और मौज मारो।" – जल

में ही रहनेवाला एक नास्तिक किस्म का सांप बोला और वहाँ से चला गया।

"ये सब है तो फिर हमें क्यों नहीं दिखाई देते? हमें तो दिखाई नहीं देते फिर कैसे मान लें कि ये सब हैं?" – एक कछुआ बोला।

"हमें तो ये इसलिये नहीं दिखाई देते; क्योंकि हमारा ज्ञान और पहुँच अल्प है; परन्तु हमसे जो ज्ञान में अधिक हैं – उन्हें तो दिखाई देते ही हैं। सभी जीव स्व-स्व गति नामकर्म के उदय से इन गतियों में परिभ्रमण करते हैं; अतः हमें भी सर्वप्रथम कर्मसिद्धान्त द्वारा यह समझने का प्रयास करना चाहिये।" – इसी (धार्मिक किस्म के) मेंढक ने समाधान किया।

कछुए को बात समझ में नहीं आयी। उसने अपनी गर्दन अन्दर को समेट ली और वहाँ से चलता बना और उसके साथ ही अन्य प्राणी भी धीरे-धीरे वहाँ से बिखर गये।

कबूतर ने जैसे ही कुँए के अन्दर गहराई तक प्रवेश किया तो उसके पंखों के फड़फड़ाने की आवाज सुनकर जल की ऊपरी सतह से भी कुछ ऊपर चढ़कर बैठे हुए दो वैज्ञानिक मेंढक सावधान हो गये। उन्होंने अपनी-अपनी दूरबीन अपनी आँखों के आगे तान ली और उनकी तरफ आते हुए कबूतर को दिल थामकर देखने लगे। उनके दिल की धड़कनें काफी तेज हो चुकीं थीं।

उड़ता हुआ कबूतर जल की ऊपरी सतह से कुछ ही ऊपर बने हुए एक खांचे में बैठ गया। कबूतर मेंढ़कों से इतनी नजदीकी पर बैठा हुआ था कि मेंढ़कों को उसे देखने के लिये अब दूरबीन की भी आवश्यकता नहीं थी।

एक वैज्ञानिक मेंढक दूसरे वैज्ञानिक मेंढ़क से बोला –

अच्छा अवसर है अब इसे कैद कर लेने का।

"हाँ है तो; पर हमें सावधानी से काम लेना होगा। कहीं ये उड़ गया तो? हल्की आहट पाकर ये पहले भी एक बार हमारी गिरफ्तारी से निकल गया था।" – दूसरे वैज्ञानिक मेंढक ने कहा।

हाँ सो तो है ही, पर करें क्या? काफी सतर्क प्राणी है ये। क्यों न अबकी बार हम दूसरा तरीका इस्तेमाल करें।

वह क्या?

हम उससे बात करने का प्रयास करें, उसको इस बात का आभास करा दें कि हम उसके शत्रु नहीं हैं, हम तो उससे मित्रता करना चाहते हैं।

हाँ यही ठीक रहेगा।

"इसके बावजूद भी यदि ये भागने की कोशिश करता है तो हमें फुर्ती से काम लेना होगा। उछलके उसकी एक टांग तुम पकड़ लेना और एक टांग मैं पकड़ लूंगा" – दूसरे वैज्ञानिक मेंढक ने कहा।

इसीप्रकार की मंत्रणा में मशगूल थे दोनों वैज्ञानिक मेंढक कि तभी उस कबूतर की नजर उन दोनों मेंढकों पर जा पड़ी। उन्हें देखकर कबूतर बोला –

"अरे मेंढको! तुम यहाँ क्या कर रहे हो? कहो, कोई विशेष बात है क्या? आज तो जल से काफी ऊपर चढ़कर बैठे हुए हो।"

कबूतर के मुंह से अपना नाम सुनकर दोनों मेंढ़क चौंक गये। आश्चर्य से उनका मुख खुला का खुला रह गया। हड़बड़ाते हुए एक मेंढ़क बोला –

"तुम!....ऽऽ.... कौन हो तुम? हमारा नाम कैसे जानते हो? कहाँ से आये हो? क्या लेने आये हो यहाँ पर?"

"मैं! अरे, मैं कबूतर हूँ क्या तुम मुझे नहीं जानते? मैं तो तुम्हें बरसों से जानता हूँ। तुम्हारी जाति के लोग ऊपर जमीन पर भी रहते हैं। आपका और हमारा तो सदियों पुराना नाता है। हमारे बाप-दादे-पुरखे सदियों से ही आपके इस कुँए में अपने अण्डों को सुरक्षित रखने के लिये आते रहे हैं। मैंने भी अण्डे यहाँ रख छोड़े हैं; इसलिए मैं यहाँ आया हूँ। आपको कोई तकलीफ हो तो कहो।"

कबूतर की बातें सुनकर दोनों वैज्ञानिक मेंढक आश्चर्य में पड़ गये। एक वैज्ञानिक बोला – "ओह! तो इसका मतलब यह हुआ कि सदियों से ही आपके ग्रह के लोग हमारे इस ग्रह पर आते रहे हैं। हमारे इस विश्व में हस्तक्षेप करते रहे हैं। अब आपके विश्व में प्रवेश करने का हमारा भी हक बनता है। क्या आप हमें अपने साथ आपके विश्व में ले चलेंगे?"

"आपका विश्व और हमार विश्व अलग-अलग है क्या? ओह! समझा! आप इस कुँए के विश्व को ही अपना अलग विश्व समझ रहे हो; क्योंकि आपका ज्ञान सीमित है। कुँए के बाहर के विश्व का आपको कुछ भी पता नहीं है। इसलिये आपको यह भ्रम खड़ा हुआ है। कुँए के बाहर लम्बा-चौड़ा विश्व फैला हुआ है। यह कुआ तो इसका मात्र एक छोटा-सा हिस्सा है। इस कुँए जैसे असंख्य कुँए इस विश्व में बने हुए हैं" – कबूतर ने कहा।

"सच! क्या ये सब आपने अपनी आँखों से देखे हैं? आप जिस विश्व से यहाँ आते हैं, वहाँ और क्या-क्या है जरा बताइये ना?" – दूसरा वैज्ञानिक मेंढक बोला।

नदियाँ हैं, नाले हैं, समुन्दर हैं, बड़े-बड़े पर्वत हैं, वृक्ष हैं, मकान हैं, मन्दिर हैं, मनुष्य हैं, हाथी-घोड़े हैं, और भी बहुत-सी वस्तुऐं हैं। किस-किस का नाम बतायें? असंख्य वस्तुऐं इस

विश्व में हैं – कबूतर बोला।

"क्या वास्तव में ये सब हैं? क्या आपने ये सब अपनी आँखों से देखें हैं? दोनों वैज्ञानिक मेंढक आश्चर्य व्यक्त करते हुए बोले। उन्हें कबूतर की बात का विश्वास ही नहीं हो रहा था।"

"हाँ, हाँ ये सब हैं। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।"

"हम भी इन सब चीजों को देखना चाहते हैं, आप हमको अपने साथ ले चलिये" – एक वैज्ञानिक मेंढक बोला।

काफी अनुनय-विनय के बाद कबूतर उनको अपने साथ ले जाने के लिए राजी हो गया। दोनों वैज्ञानिक (मेंढ़क) कबूतर की एक-एक टांग पकड़ कर लटके रहे और कबूतर उन्हें लेकर उड़ता रहा। काफी देर तक उड़ते रहने के बाद वे सब कुँए के बाहर पहुँच गये। वहाँ के प्रकाश से दोनों वैज्ञानिकों (मेंढक) की आँखें चुँधिया गयीं; लेकिन धीरे-धीरे वे तेज प्रकाश में भी देखने के अभ्यस्त हो गये।

उधर कुँए की दुनियाँ के लगभग सभी समाचार पत्रों ने अपने मुखपृष्ठ पर इस खबर को प्राथमिकता देते हुए लिखा कि हमारे यहाँ के दो वैज्ञानिक मेंढक दूसरे ग्रह तक पहुँचने में सफल रहे हैं।

विशेष खुलासा करते हुए अखबारों ने लिखा कि "अन्तरिक्ष के क्षेत्र में हमारी यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। अधिकांश समाचारपत्र इस बात का संकेत नहीं दे पाये कि ये वैज्ञानिक किस तरह से वहाँ पहुँचे। एक मशहूर समाचारपत्र ने इस दिशा में थोड़ा संकेत जरूर दिया। उसने एक संक्षिप्त टिप्पणी में लिखा – सूत्रों से प्राप्त जानकारी के अनुसार हमारे वैज्ञानिक दूसरे ग्रह के पंखों वाले एक विचित्र प्राणी के साथ दोस्ती करने में सफल रहे और उसी के सहायता से वे वहाँ पहुँचे।

अधिकांश समाचारपत्रों ने आशंका भी व्यक्त की कि क्या पता हमारे ये वैज्ञानिक सही सलामत वापस लौट भी पाते हैं या नहीं। वहीं ऐसी सम्भावनाएं भी व्यक्त की गईं कि यदि ये वैज्ञानिक सही सलामत वापस लौट पाते हैं तो दूसरी दुनिया के बहुत से रहस्यों का पर्दाफाश हो जायेगा।

कबूतर ने दोनों वैज्ञानिकों का परिचय जमीन के ऊपर रहनेवाले उन्हीं की जाति के अन्य मेंढ़कों से करवा दिया। अपनी ही जाति भाइयों को यहाँ देखकर दोनों वैज्ञानिकों को काफी प्रसन्नता एवं राहत का अनुभव हुआ।

घूम-घूम कर यहाँ के स्थानों एवं चीजों को दोनों वैज्ञानिक जांचते रहे, परखते रहे यहाँ के बड़े-बड़े भवन, चित्र-विचित्र जीव-जन्तु, मनुष्य, हाथी, घोड़े, ऊँट-बैल, कुत्ते-बिल्ली, चूहे, तोते आदि।

यहाँ के बड़े-बड़े सरोवर, बाँध, नदी-नाले, पर्वत-पठार, समुन्दर, विभिन्न जाति के वृक्ष, पेड़-पौधे, वनस्पति, फल-फूल आदि तथा विभिन्न किस्म के वैज्ञानिक उपकरण, छोटी-बड़ी मशीनें, वाहन, रेलें, मोटरें, हवाई जहाज, कारें आदि। यहाँ का वैभव, यहाँ की सुख-सुविधाएँ।

इन सभी को देखकर दोनों वैज्ञानिकों के होश ठिकाने आ गये। वे तो अपनी कुँए वाली दुनिया को ही एक विशालकाय दुनिया समझ रहे थे; परन्तु यहाँ का नजारा तो कुछ ओर ही था। कुँए के बाहर इतना लम्बा-चौड़ा विश्व। एक कल्पनातीत विश्व से उनका परिचय हुआ था।

एक दिन घूमते हुए दोनों वैज्ञानिक मेंढक एक गगनचुम्बी शिखरों वाले जैनमंदिर के प्रांगण में जा पहुँचे। वहाँ एक नग्न दिगम्बर महात्मा धर्मप्रेमी लोगों को धर्मोपदेश दे रहे थे। कौतुहलवश दोनों वैज्ञानिक भी महात्मा का उपदेश सुनने

लगे। महात्मा कह रहे थे – "वर्तमान में हमें अपनी आँखों से जो यह विश्व दृष्टिगोचर हो रहा है वह तो वास्तव में समुंद्र की तुलना में उसकी एक बूंद के बराबर भी नहीं है। इसके अलावा भी बहुत कुछ है जो कि ज्ञान में स्वीकृत होने योग्य है; फिर भले ही वह हमें अपनी आँखों से दिखाई न देता हो। हमारा यह विश्व तो भरतक्षेत्र का एक हिस्सामात्र है। ऐसे-ऐसे पाँच भरतक्षेत्र हैं, पाँच विदेह हैं, पाँच ऐरावत हैं, पाँच हेमवत, पाँच हरी, पाँच ही रम्यक और हैरण्यवत हैं। इतना सबकुछ तो मध्यलोक के ढाई द्वीप में ही है। इसके अलावा मध्यलोक में ही असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।"

ऊपर उर्ध्वलोक में सोलह स्वर्ग हैं, नव ग्रैवेयक हैं, नव अनुदिश हैं, पाँच अनुत्तर विमान हैं और उसके ऊपर सिद्धशिला और फिर अनन्त-अनन्त अलोकाकाश है।

नीचे अधोलोक में सात नरक हैं। और नीचे तथा लोक के आजू-बाजू में अनन्त आकाश है। यह सब है। भले ही हमें अपनी आँखों से ये सब न दिखाई देते हों तो क्या हुआ?

विज्ञान भी आज इस बात को स्वीकार करने लग गया है और दूसरे ग्रहों पर मानव जीवन की खोज में वह भी लगा हुआ है। नये-नये ग्रहों की खोज तथा उनके अध्ययन में हमारे वैज्ञानिक लोग जुटे हुए हैं। विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों से यह बात साफ है कि विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करने लग गया है कि विश्व इतना ही नहीं है जितना हमें अपनी आँखों से दिखाई देता है अथवा हमारी जानकारी में है।

सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत शास्त्रों में तो यह सब बातें पहले से ही लिखी हुई हैं।

परमाणु हैं, उनके स्कन्धरूप कार्मण वर्गणाऐं हैं, भाषा वर्गणाऐं, तेजस वर्गणाऐं आदि इक्कीस प्रकार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्गणाऐं हैं।

धर्मद्रव्य है, अधर्मद्रव्य है, आकाशद्रव्य है, कालद्रव्य है। जीव तथा पुदगलद्रव्य तो हमारे अनुभव में आ ही रहे हैं।

पुण्य है, पाप है, धर्म है, सबकुछ है। कहते हुए महात्माजी कुछ देर के लिये रुके।

यदि यह सब है तो फिर ये हमें क्यों नहीं दिखाई देते? बिना देखे हम कैसे मान लें?" – एक जिज्ञासु ने प्रश्न पूछा।

"हमारा ज्ञान तुच्छ है। हमारे ज्ञान के ऊपर कार्मण वर्गणा नामक पुद्गल परमाणुओं का आवरण पड़ा हुआ है; इसलिये ये हमें नहीं दिखाई देते।

कुँए के अन्दर रहनेवाले मेंढ़क का ज्ञान हमसे भी तुच्छ है। उसे दुनिया कुँए जितनी ही लगती है; इसलिये वह उतनी ही मानता है, कहता है बिना देखे कैसे मान लूँ। तो उसका ऐसा कहना ठीक है क्या? कुँए के बाहर यह लम्बी-चौड़ी दुनिया नहीं है क्या? मुनिराज का तर्क सुनकर दोनों मेंढ़क

वैज्ञानिक चकित रह गये। कितनी सटीक बात कही थी महात्माजी ने। महात्माजी के समर्थन में दोनों वैज्ञानिक अपना सिर हिलाने लगे।

ये कार्मण वर्गणाऐं क्या हैं? इनके स्वरूप के बारें में थोड़ा विस्तार से समझाइये ना? एक जिज्ञासु ने निवेदन किया।

वैज्ञानिकों द्वारा जाने जा सकें – ऐसे इलैक्ट्रानों प्रोट्रानों एवं न्यूट्रानों से भी ज्यादा सूक्ष्म पुद्गल परमाणु इस विश्व में सर्वत्र ठसाठस भरे हुए हैं; जिन्हें कार्मण वर्गणाऐं अथवा जड़कर्म कहा जाता है।

यही कर्म वर्गणाऐं (कार्मण वर्गणाऐं) आत्मा के राग-द्वेष-मोह परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के प्रदेशों की तरफ आकृष्ट होती रहती हैं एवं आत्मा के साथ बंधती रहती हैं। हमारे (आत्मा के) विभिन्न विचारों एवं भावनाओं के अनुसार प्रतिसमय नयी-नयी कार्मण वर्गणाओं का आगमन होता रहता है और पुरानी बंधी कर्म वर्गणाऐं फल देकर आत्मा से अलग होती रहती हैं।

इसी व्यवस्था के फलस्वरूप प्राणियों को अपने-अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल मिलता रहता है। प्राणियों को सुखी अथवा दुःखी करनेवाला कोई अलग ईश्वर नहीं है।

इसप्रकार इन कार्मण वर्गणाओं का सम्बन्ध अनादि काल से ही प्रत्येक प्राणी की आत्मा के साथ लगा हुआ है और भविष्य में भी तबतक लगा रहेगा, जबतक स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से इन कर्मों के आवरण को अपनी आत्मा से अलग नहीं कर लेता।

कर्मों के इन आवरण के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के प्राणियों में ज्ञान की हीनाधिकता पाई जाती है।

इस आवरण के ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार ही

प्राणियों के जानने की सामर्थ्य में अन्तर पाया जाता है।

किसी का ज्ञान कम है, किसी का अधिक है, किसी का इससे भी अधिक है। यहाँ पर पाये जानेवाले प्राणियों और व्यक्तियों में से किसी के भी जानने की योग्यता में समानता नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की बात तो दूर रही; किन्तु एक ही व्यक्ति के ज्ञान में विभिन्न समयों में घट-बढ़पना होता रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यह सब उस आवरण के अनुसार ही होता रहता है। यदि आत्मा में से कर्मों के सम्पूर्ण आवरण का अभाव हो जाये तो पूर्ण ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता प्रगट हो जाये, आत्मा स्वयं परमात्मा बन जावे।

जिन्होंने अपनी आत्मा से कर्मों के सम्पूर्ण आवरण को पृथक् कर लिया और सर्वज्ञता प्रगट कर ली – ऐसे सर्वज्ञ -वीतराग भगवान ने सम्पूर्ण विश्व एवं उसके पदार्थों को अपने ज्ञान में जानने के बाद उसके सम्बन्ध में कथन किया है; इसलिये इनको मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

इसप्रकार धर्मग्रन्थों में जो कुछ भी कथन किया गया है। उसको सत्य स्वीकार करना चाहिये। यह जरुरी नहीं है कि अपने तुच्छ ज्ञान में जितना प्रत्यक्ष दिखाई दे, उसे ही स्वीकार किया जाये। हम चाहें तो हम स्वयं भी सत्य की स्वीकारोक्तिपूर्वक अपने आत्मा में से कर्मों को अलग करके भगवान बन सकते हैं और अनन्त सुख-ज्ञान, दर्शन-वीर्य आदि का अनन्त-अनन्त कालतक भोग कर सकते हैं।

"महाराज! सुखी होने के लिए सम्पूर्ण विश्व और उनके सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान होना जरुरी है क्या?" – एक जिज्ञासु ने विनम्रतापूर्वक पूछा।

सुख का आधार स्वद्रव्य है। प्रत्येक प्राणी का सुख स्वयं उसके आत्मा में से ही आता है; इसलिये सुखी होने के लिये

स्वयं की आत्मा का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि सुखी होने के लिये सम्पूर्ण विश्व और उसके सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान होना जरुरी नहीं है; परन्तु फिर भी प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का ज्ञान तो जरुरी ही है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये सात तत्त्व हैं।

निज आत्मद्रव्य के स्वरूप को समझने में इन सात तत्त्वों का ज्ञान आ ही जाता है; इसलिये आत्मद्रव्य का ज्ञान ही सुखी होने के लिये मुख्य है।

स्वयं को ही जानने-पहचानने का प्रयास करना चाहिये।

जानने-देखने और सुख-दुःख का अनुभव करनेवाली जो कोई वस्तु है; वह स्वयं आप ही है तथा ये शरीरादिक हैं; वे सब पर हैं – इसप्रकार भेदविज्ञानपूर्वक आत्मसन्मुख होने का प्रयास करना चाहिये।

आत्मा स्वभाव से ही ज्ञान और आनन्द का घनपिण्ड है, प्रभु है, परमात्मा है, जो उसकी महिमा लाकर उसका अनुभव कर लेता है, उसको सम्पूर्ण विश्व और उसके सम्पूर्ण पदार्थों का सच्चा स्वरूप भी ख्याल में आ ही जाता है तथा अल्पकाल में सम्पूर्ण विश्व भी उसके ज्ञान में प्रत्यक्ष हो जाता है; इसलिये सर्वप्रथम स्वयं को जानने-पहचानने का प्रयास करना चाहिये। महात्माजी ने समझाया।

महात्माजी के सिद्धान्त और अध्यात्म से सराबोर उपदेश को सुनकर दोनों वैज्ञानिक मेंढक प्रसन्न हो गये। लगातार आठ दिनों तक इसी तरह से सही समय पर हाजिर होकर वे महात्माजी के उपदेश सुनते रहे।

उपदेशों को सुनकर जहाँ एक तरफ उनको सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था ख्याल में आ गई, वहीं दूसरी तरफ आत्मोपलब्धि भी हो गयी। यहाँ आकर पाने योग्य सब कुछ उन्होंने

पा लिया। काफी घूम फिर चुकने के बाद फिर से वे अपने कुँए वाली दुनिया की तरफ प्रस्थान कर गये। अपने उसी कबूतर साथी की सहायता से दोनों वैज्ञानिक अपने गंतव्यस्थल तक पहुंच गये।

कुँए की दुनियाँ में तहलका मच गया। मुख्य चर्चा का विषय यही था कि हमारे दोनों वैज्ञानिक मेंढक दूसरे ग्रह की सैर करके सकुशल वापस लौट आये।

वहाँ के लगभग सभी समाचार पत्रों ने इस खबर को अपने मुखपृष्ठों पर छापा। एक समाचार-पत्र में छपी खबर के अनुसार जब से ये अन्तरिक्ष यात्री (वैज्ञानिक) अपनी दूसरे ग्रह की यात्रा से वापिस आये हैं, तब से उनमें कुछ विरक्ति जैसी भावना आ गयी है और वे आत्मकेन्द्रित से हो गये हैं। उनके ऐसे व्यवहार से उनके परिचितों को भी परेशानी हो रही है। इसका कारण यही विदित होता है कि बहुत सम्भव है कि उस विश्व की विशालता का कुछ अनुभव करके इन अन्तरिक्ष यात्रियों को इस कुँए की दुनियाँ की और यहाँ के निवासियों की क्षुद्रता का कुछ भान हुआ हो और इसीलिये उनमें यह विरक्ति की भावना जाग्रत हो गयी हो।

यद्यपि ये वैज्ञानिक दूसरे ग्रह के सम्बन्ध में जानकारी देने से कतराने लगे हैं; परन्तु किसी तरह से उनसे जो कुछ उगलवाया जा सका है, उसके महत्त्वपूर्ण तथ्य इसप्रकार हैं –

कुँए के बाहर जो लम्बी-चौड़ी दुनिया है, उसी दुनिया का एक छोटा-सा हिस्सामात्र है हमारा यह कुँआ। कुँए के बाहर की दुनिया में विचरण करनेवाले एक महात्मा के उपदेशों के अनुसार प्रत्येक प्राणी का स्वतंत्र अस्तित्व तथा प्रत्येक प्राणी में सर्वज्ञता प्रगट करने की शक्ति विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी स्वयं अपनी ही भूल के कारण दुःखी और स्वयं ही अपनी भूल

को सुधारकर सुखी होने में समर्थ है।

यह विश्व अनादि-अनंत तथा स्वचालित छः प्रकार के द्रव्यों का समूह है। यह विश्व तथा इसमें रहनेवाले प्रत्येक द्रव्य स्वचालित एवं स्वतंत्र हैं। न्यूट्रानों तथा कार्मण नामक अत्यंत ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का अस्तित्व –

सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व आर-पार।
सम्पूर्ण विश्व की तुलना में हमारा यह दृष्टिगोचर विश्व।।

समुद्र की तुलना में उसकी एक बूँद के बराबर –

सम्पूर्ण विश्व को जानलेने की इच्छावाले पुरुष सर्वप्रथम अपने आत्मा को जानने का प्रयास करें। भगवान (सर्वज्ञ) बनकर सम्पूर्ण विश्व के प्रत्यक्ष ज्ञाता बनें और अनंतकाल तक अनंतसुख का भोग करें। कुए की बाहरी दुनिया के भ्रमण के आधार पर एवं मुनिराज के उपदेशों के सारांश के रूप में ऐसे महत्त्वपूर्ण विचार उन दोनों वैज्ञानिक मेंढकों ने अपनी सीमित दुनिया के कूपमंडूकों को सुनाये, जिन्हें सुनकर उन्हें भी यह सब जानने की जिज्ञासा जागृत हो गई। ●

अरे ! तुम तो वह हो, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है। वह तुम्हारे दर्शन करके कृतार्थ होगा। बस, तुम्हें तो मात्र स्वयं को जानना, स्वयं को पहचानना और स्वयं में ही जमना-रमना है। तुम्हें इसके सिवाय और कुछ करना ही नहीं है।

– सुखी जीवन, पृष्ठ-६२

इतिहास के पन्ने

दर्शन और इतिहास में रुचि रखनेवाले डॉ॰ जयवर्द्धन सिन्हा ने अब "दिगम्बर जैनदर्शन और बीसवीं सदी" शीर्षक से अपने इतिहास के पन्ने लिखने के लिए गत पचास वर्ष पुरानी सम्पूर्ण जैन पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन किया तो पाया कि अधिकांश पन्नों में श्रीकानजीस्वामी किसी न किसी रूप में अवश्य चर्चित हैं। इसलिए उसने यह निर्णय लिया कि दिगम्बर जैनसमाज में पिछले पाँच दशकों से लेकर आजतक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और चर्चास्पद व्यक्तित्व के धनी श्रीकानजीस्वामी ही रहे हैं और इसके साथ ही उसने कलम उठाकर अपने लेख में आगे लिखना शुरू किया – "दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार में श्रीकानजीस्वामी का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। लगभग पचास वर्षों तक ये अपने प्रवचनों के माध्यम से दिगम्बर धर्म का प्रचार करते रहे। यद्यपि श्रीकानजीस्वामी का जन्म स्थानकवासी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुआ था तथा 22 वर्ष की उम्र में ही उन्होंने शादी के प्रस्ताव को ठुकराते हुए उसी सम्प्रदाय में दीक्षा भी ले ली थी; पर दीक्षा लेने के लगभग इक्कीस वर्ष बाद दिगम्बर शास्त्र समयसार एवं मोक्षमार्गप्रकाशक से प्रभावित होकर उन्होंने स्वयं को दिगम्बर धर्म में परिवर्तित कर लिया था। इसके पश्चात् तो ये समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रंथ पर अध्यात्मरस से ओत-प्रोत प्रवचन भी करने लग गये थे। इतना ही नहीं, इनके उन अध्यात्म के गम्भीर रहस्यों से ओत-प्रोत प्रवचनों को सुनकर लाखों श्वेताम्बर भी दिगम्बर बन गये थे, इसके साथ ही साथ लाखों दिगम्बर भी उनके अनुयायी बनकर उनके प्रवचनों का लाभ उठाने लगे। धीरे-धीरे इनके प्रवचनों से

सम्पूर्ण ही दिगम्बर जैनसमाज में एक आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात होने लगा। जगह-जगह आध्यात्मिक गोष्ठियाँ एवं स्वाध्याय सभाएँ स्थापित होने लगीं तथा समय-समय पर धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षण एवं प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन होने लगा। लाखों की कीमत का धार्मिक साहित्य प्रकाशित होकर घर-घर पहुँचने लगा। धार्मिक पाठशालाओं की स्थापना होने लगी।

श्रीकानजीस्वामी के धर्मप्रचार के फलस्वरूप उनकी प्रेरणा से 63 नये दिगम्बर जैनमंदिरों का निर्माण हुआ था।

जहाँ एक तरफ इतना सबकुछ हुआ, वहीं दूसरी तरफ समाज का एक वर्ग ऐसा भी उभरा जो श्रीकानजीस्वामी एवं उनके द्वारा चलाए जा रहे आध्यात्मिक मिशन का विरोध करने लगा।

विरोध का वातावरण इस हद तक बढ़ने लगा था कि जहाँ एक ओर ये विरोधी लोग अपने-आपको "आर्षमार्गी" कहते हुए कानजीस्वामी एवं उनके अनुयायियों को गैर दिगम्बर घोषित करने पर तुले हुए थे, वहीं दूसरी ओर श्रीकानजीस्वामी और उनके अनुयायी अपने आपको भगवान महावीर और दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा का शुद्ध आम्नायी दिगम्बर जैन घोषित करते रहते थे। स्वयं कानजीस्वामी के अनुसार – "भाई! क्या उनके द्वारा गैर दिगम्बर घोषित करने से हम गैर दिगम्बर हो जायेंगे? उन्होंने हमें दिगम्बर भी कब घोषित किया है? क्या हम उनके दिगम्बर घोषित करने से दिगम्बर हुए हैं? हमने तो दिगम्बर धर्म को 'सत्यपंथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर' जानकर-मानकर अंगीकार किया है। हम दिगम्बर धर्म की श्रद्धा से सच्चे दिगम्बर बने हैं और अपनी इसी श्रद्धा से ही दिगम्बर जैन बने रहेंगे।"

इतना लिखने के बाद डॉक्टर सिन्हा ने कलम बंद कर दी। आज वह इससे ज्यादा कुछ भी लिखना नहीं चाहता था। अब आगे कुछ भी लिखने से पहले तत्कालीन समग्र परिस्थितियों का वह एकबार फिर से गहन अध्ययन करना

चाहता था। समय बहुत ज्यादा हो गया था, रात्रि के लगभग ग्यारह बजने को आये थे; इसलिए आगे का कार्य वह कल पर छोड़कर सोने की तैयारी करने लगा।

डॉ॰ सिन्हा का अध्ययन कई दिनों तक चलता रहा। अपने अध्ययन के दौरान डॉ॰ सिन्हा के जानने में आया कि – अपने-आपको आर्षमार्गी कहनेवाले लोग श्रीकानजीस्वामी और उनके मिशन के खिलाफ समाज को विभिन्न प्रकार के आरोप लगाकर भड़काते रहते थे।

आर्षमार्गी लोग इन अध्यात्मवादियों के ऊपर मुनिविरोधी होने का एवं सिद्धांतों के विपरीत उपदेश देकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति कराने का एवं शास्त्रों में फेर-बदल कर डालने का

आरोप समय-समय पर लगाते रहे हैं। जब डॉ॰ सिन्हा के जानने में यह सब आया तो इस बात की सत्यता को जानने के लिये उसने श्रीकानजीस्वामी के प्रवचनों का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक समझा। फलतः वह कानजीस्वामी के प्रवचनों का साहित्य प्राप्त करने के उद्देश्य से सोनगढ़ जा पहुँचा। लम्बे-लम्बे हिप्पी-कट बालोंवाला एवं दुबला-पतला डॉ॰ सिन्हा अपने साथ कैमरा भी ले गया था। वहाँ के भव्य एवं मनोहारी मंदिरों को देखकर वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। वहाँ के भाववाही वीतरागी जिनबिम्बों को देखकर उसका चित्त प्रसन्न हो गया। जिनमंदिरों और जिनबिम्बों के फोटो उसने अपने कैमरे में उतारे। कुछ पुस्तकों को छोड़कर ज्यादा मात्रा में हिन्दी साहित्य उसको वहाँ पर प्राप्त नहीं हो सका। इसलिए उसने हिन्दी साहित्य को प्राप्त करने के लिए वहाँ से जयपुर जाना उचित समझा। वैसे भी वह जयपुर जाकर कानजीस्वामी के बारे में विशेष जानकारी तो प्राप्त करना ही चाहता था, इसलिए वह वहाँ से जयपुर के लिए रवाना हो गया।

श्री टोडरमल स्मारक भवन से और वहाँ की तत्त्वप्रचार की गतिविधियों से वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। श्रीकानजीस्वामी के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से उसने एक युवक से पूछताछ शुरू की। उस युवक ने बातचीत के दौरान उसे बताया कि "पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी का मुझ जैसे लाखों व्यक्तियों पर अनन्त-अनन्त उपकार है। यद्यपि गुरुदेव को अपनी आँखों से देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हो सका, तथापि उनके प्रवचनों के माध्यम से मैंने उनको देखा है, जाना है। उनके प्रवचनों के निमित्त से मुझे अपनी अनमोल आत्म-सम्पदा की जानकारी प्राप्त हुई है, इसलिए मेरा चित्त उन्हें गुरुदेव के रूप में स्वीकार करता है।"

श्रीकानजीस्वामी के बारे में और भी बहुत सारी बातों की जानकारी विभिन्न लोगों से प्राप्त करते हुए तथा उनके प्रवचनों का ढेर सारा हिन्दी साहित्य प्राप्त करते हुए डॉ॰ सिन्हा वापस अपने नगर की तरफ चल दिया।

अरे भाई! तेरा चैतन्यतत्त्व कैसा है, कौन है, उसकी तुझे खबर नहीं है। प्रभु! तेरा चैतन्यतत्त्व अनादि-अनन्त गुणों का गोदाम है, अनन्तसुख का सागर है, अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है, वह क्रोध का, रागादिभावों का स्थान नहीं है। भगवान आत्मा ध्रव-ध्रुव ध्रुवस्वरूप त्रिकाल सच्चिदानन्दघन स्वरूप, वीतरागस्वरूप है, ज्ञान और आनन्द का घनपिण्ड है।

अहाहा.....! एक-एक गाथा में जड़ व चेतन तथा राग व ज्ञान का भिन्न-भिन्न वर्णन किया है। बापू! यह वीतराग का मार्ग अलौकिक है। जड़ व चेतन का सदैव प्रगट भिन्न स्वभाव है। जगत में अनन्त जीव हैं तथा अनन्त अजीव जड़ पदार्थ हैं। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता बने, तद्रूप परिणमन करे तो वे सब अनन्तपने कैसे रह सकेंगे? अतः प्रत्येक द्रव्य का परिणमन परनिरपेक्ष है, स्वतन्त्र है।

यह गाथा बहुत ही सरस है। आचार्य कहते हैं कि जैसे ईश्वर को जगत का कर्त्ता माननेवाले अन्य ईश्वरवादी मिथ्यादृष्टि हैं, उसीप्रकार जैनसम्प्रदाय में रहकर कोई ऐसा माने कि मैं शरीर को हिला सकता हूँ तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है।

बापू! दिगम्बर जैनधर्म तो वस्तु का स्वरूप है। यह कोई सम्प्रदाय या बाड़ा नहीं है।

श्रीकानजीस्वामी के प्रवचनों के केसिट्स सुनकर और उनके प्रवचन रत्नाकर के अध्ययन के दौरान चैतन्यतत्त्व की बारम्बर महिमा गानेवाले उक्त वचनों से जहाँ एक ओर डॉ॰ सिन्हा को अत्यधिक आनन्द आने लगा, वहीं दूसरी ओर जैनधर्म की

परस्पर विरोध रहित इतनी स्पष्ट और तर्कसंगत प्रामाणिक व्याख्या सुनकर दिगम्बर जैनधर्म के प्रति उसकी श्रद्धा भी बढ़ने लगी। वैसे तो आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, अमृतचन्द्र, जयसेन, नेमीचन्द्र, समंतभद्र आदि आचार्यों एवं पाण्डे राजमल्लजी बनारसीदासजी, दीपचन्दजी शाह, टोडरमलजी, जयचन्दजी, भागचन्दजी, दौलतरामजी आदि विद्वानों के अध्ययन के दौरान भी डॉ॰ सिन्हा को जैनधर्म के सिद्धांतों के बारे में काफी कुछ समझने को मिलता रहा था, परन्तु श्रीकानजीस्वामी के गूढ़तम आध्यात्मिक रहस्योद्घाटक प्रवचनों ने उनका ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया। इससे दिगम्बर धर्म के प्रति उसके मन में अपार आस्था होने लगी।

डॉ॰ सिन्हा ने 'श्रावकधर्मप्रकाश' ग्रन्थ का भी अध्ययन किया, जिसमें जगह-जगह लिखा था। "जो निग्रंथ गुरुओं को नहीं मानता, उनकी पहचान और उपासना नहीं करता, उसको तो सूर्य उगे हुए भी अंधकार है। भगवान के विरह में उनकी प्रतिमा को साक्षात् भगवान के समान समझकर श्रावक हमेशा दर्शन पूजन करें। इसीप्रकार स्वयं भोजन करने के पूर्व मुनिवरों को याद करें कि 'अहो! कोई सन्त-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे आंगन में पधारें और मैं भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन कराने के बाद भोजन करूँ।' देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का ऐसा प्रभाव श्रावक के हृदय में बहना चाहिए।"

प्रत्येक जैनमात्र को सप्त व्यसनों का त्याग और अष्ट मूलगुणों का धारण सर्वप्रथम होना चाहिए। रात्रिभोजन में मांसभक्षण का दोष है, रात्रि में अनेक कीड़े-मकोड़े भोजन में पड़ जाते हैं। अथाना – अचार भी नहीं खाना चाहिए, उसमें भी त्रस जीव पड़ जाते हैं। अनछना पानी भी काम में नहीं लेना चाहिये। अनन्तकाय, जमीकन्द, अमर्यादित मक्खन आदि

का सेवन करना भी ठीक नहीं।

श्रावकधर्मप्रकाश ग्रन्थ के अध्ययन से डॉ॰ सिन्हा को यह स्पष्ट भाषित हुआ कि आर्षमार्गियों द्वारा समय-समय पर लगाये जाते रहे सभी आरोप निरर्थक और मिथ्या हैं।

इसी बीच अपने-आपको आर्षमार्गी कहनेवालों के यहाँ से प्रकाशित एक पुस्तक डॉ॰ सिन्हा के हाथ लगी; जिसमें दर्शनपाहुड़ की बारहवीं गाथा का जो अर्थ किया गया था। उसे पढ़कर डॉ॰ सिन्हा हतप्रभ रह गये। विभिन्न आचार्यों एवं विद्वानों के अध्ययन के दौरान भी यह गाथा डॉ॰ सिन्हा के देखने में आयी थी। विभिन्न संस्थाओं के प्राचीन से प्राचीन एवं नवीन से नवीन प्रकाशनों में इस गाथा का जो अर्थ किया गया था, उस अर्थ से यह अर्थ बिल्कुल भी मेल नहीं खाता था। इसी तरह से तीसरी गाथा का अर्थ भी डॉ॰ सिन्हा को इस पुस्तक में विकृत किया हुआ नजर आया, इसलिए उसे यह समझते देर नहीं लगी कि वास्तव में अपने-आपको आर्षमार्गी कहनेवाले लोग ही ग्रन्थों के अर्थों को सदा से विकृत करते आ रहे हैं और आरोप शुद्ध आम्नायी दिगम्बरों के ऊपर लगाते आ रहे हैं।

इसी बीच डॉ॰ सिन्हा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में – "श्री कानजीस्वामी, श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर और सोनगढ़" इस शीर्षक से अपना एक लेख भी वहाँ के मंदिरों एवं जिनबिम्बों के फोटो के साथ प्रकाशित करवा चुका था।

डॉ॰ सिन्हा को जब अपने आवश्यक अध्ययन से पूरा-पूरा संतोष हो गया तो उसने अपनी कलम को उठाते हुए अपने इतिहास के पृष्ठों में आगे लिखना शुरू किया – "गहन अध्ययन के बाद अच्छी तरह से यह कहा जा सकता है कि आर्षमार्गियों द्वारा कानजीस्वामी एवं उनके अनुयायियों के ऊपर लगाये जानेवाले आरोपों में कुछ भी

दम नहीं थीं।"

वास्तव में वे लोग पंथव्यामोह के चक्कर में फँसकर ऐसा करते रहते थे। आर्षमार्गी लोग कहानपंथ के विरोध के नाम पर दिगम्बर जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का ही विरोध करते रहते थे, क्योंकि गहन अध्ययन करने पर यह स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि कानजीस्वामी ने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया, वे सिद्धान्त पिछले सभी आध्यात्मिक आचार्यों – जैसे आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, जयसेन आदि एवं पं. भागचन्दजी, टोडरमलजी, बनारसीदासजी, राजमलजी, दीपचन्दजी, जयचन्दजी, दौलतरामजी आदि विद्वानों के ग्रन्थों से पूर्णरूप से मेल खाते हैं। श्रीकानजीस्वामी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनके विरोधियों के द्वारा घोर विरोध किये जाने के बावजूद भी अपने धर्मप्रचार के लक्ष्य से वे रंचमात्र भी डिगे नहीं। वे अपने विरोधियों के प्रति भी समताभाव रखते थे।

स्वयं कानजीस्वामी के अनुसार – "कौन किसका विरोध करता है, अज्ञानवश सब अपना ही विरोध करते हैं। इस अमूल्य जीवन को आत्महित में न लगाकर वैर-विरोध रखते हैं। कोई रखो तो रखो, उसमें हम क्या कर सकते हैं? हमारी दृष्टि में तो सभी आत्माएँ समान हैं, सभी भगवानस्वरूप हैं, भूल भरी आत्मा तो करुणा की पात्र, न कि विरोध की पात्र, अतः हम तो किसी से वैर-विरोध रखते नहीं।"

श्रीकानजीस्वामी के अनुयायियों के अनुसार श्रीकानजी-स्वामी की क्षमा बहुत ही उत्तम कोटि की होती थी। वे क्षमा इसप्रकार माँगते थे – 'यदि हमने कभी किसी को पर्यायदृष्टि से देखने की भूल की हो तो वे हमें क्षमा करें।'

कानजीस्वामी अपने युग के एक ऐसे सत्पुरुष रह चुके हैं, जिनकी अनुपस्थिति में भी लोग उनके शिष्य बनते जा रहे हैं।

यह सब उनके प्रकाशित प्रवचनों का ही जादू है।

कानजीस्वामी की मुलाकात एकबार महात्मा गाँधी से भी हुई थी, जब महात्मा गाँधी राजकोट में श्रीकानजीस्वामी का प्रवचन सुनने के लिये आये थे।

वर्तमान काल में जयपुर में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट है, जो कि श्रीकानजीस्वामी द्वारा फैलायी गई आध्यात्मिक क्रान्ति को जोर-शोर से आगे बढ़ाते हुए देश-विदेश में धर्मप्रचार का कार्य कर रहा है। इस ट्रस्ट की छत के नीचे से अबतक दिगम्बर जैनधर्म के सैकड़ों विद्वान तैयार हो चुके हैं, जो कि सम्पूर्ण देश में जैनधर्म के प्रचार का कार्य कर रहे हैं।

श्रीकानजीस्वामी के माध्यम से धर्मप्रचार व्यापक स्तर पर हुआ, परन्तु तत्त्वप्रचार के सम्बन्ध में श्रीकानजीस्वामी तो यही कहा करते थे कि "रही तत्त्वप्रचार की बात, तो यह तत्त्वप्रचार का काल पका है। सबकी होनहार अच्छी है सो हो रहा है। इसमें भी हमारा क्या? हमने किसी का कुछ नहीं किया है। जिन्हें सन्मार्ग प्राप्त हुआ है, वह उनको उनकी योग्यता – पात्रता से प्राप्त हुआ है, उसमें हमने कुछ नहीं किया है।"

इसप्रकार अकर्तृत्ववाद में प्रगाढ़ श्रद्धान रखनेवाले और उसी का जीवनभर डंके की चोट प्रचार करनेवाले कानजीस्वामी के निमित्त से दिगम्बर जैनधर्म का जो प्रचार हुआ है, उसका उल्लेख दिगम्बर जैनधर्म के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में किया जायेगा।

इतना लिखने के बाद डॉ॰ सिन्हा ने कलम बंद करते हुए टेबल पर रख दिया और अपनी कापी भी बंद कर ली, क्योंकि उसका यह लेख अब पूर्ण हो चुका था। अब उसने पास वाली अल्मारी में से पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित हिन्दी का "प्रवचनरत्नाकर भाग–3" नाम की एक पुस्तक निकाल ली

और उसके स्वाध्याय में वह तल्लीन हो गया, क्योंकि अब तो स्वयं उसे भी जैन-अध्यात्म का रस लग चुका था।

"मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ, आनन्द का रसकंद हूँ, अनन्त शक्तियों का संग्रहालय हूँ, जन्म-मरण से रहित अनादि-निधन हूँ, स्वयं परमात्मा हूँ, स्वयं ही साध्य हूँ तथा स्वयं ही साधक हूँ, स्वयं ही ध्येय हूँ तथा स्वयं ही ध्यान हूँ, ज्ञायकमूर्ति चैतन्यप्रभु हूँ।"

ज्यों-ज्यों वह इसप्रकार के अमृत वचनों का पान करता जा रहा था, त्यों-त्यों उसके अन्दर आनन्द की तरंगें उछलने लगती थीं। लगभग एक घण्टे तक अध्यात्म-अमृत का पान करते रहने के बाद अपूर्व शान्ति का अनुभव करते हुए डॉ॰ सिन्हा सोने की तैयारी करने लगा। ●

चिन्ता हो या चिन्तन – नींद तो दोनों में ही नहीं आती, पर चिन्ता से चिन्तन श्रेष्ठ है। **चिन्ता एक मानसिक विकृति का नाम है और चिन्तन है विशुद्ध तत्त्वविचार। चिन्ता अशान्ति और आकुलता की जननी है और चिन्तन है निराकुलता और शान्ति का स्रोत। चिन्तायें चेतन को जलाती हैं और चिन्तन राग-द्वेष को, मन के विकारों को। चिन्ताओं के घेरे में आत्मा अनुपलब्ध रह जाता है और चिन्तन से होती है आत्मतत्त्व की उपलब्धि।**

अतः विवेकीजन चिन्ताओं की राह छोड़कर चिन्तन की राह ही पकड़ते हैं। तत्त्वचिन्तन ही सदैव आदरणीय है, अनुकरणीय है।

– संस्कार, पृष्ठ-४३

संयम

वे कुल तीन थे। एक था विशालकाय आमवृक्ष, दूसरा था छोटा-सा लघुकाय आमवृक्ष और तीसरा था लम्बा-सा खजूर का पेड़।

एकदिन उस लघुकाय आम के पेड़ ने उस विशालकाय आम के पेड़ से पूछा – दादा! हम दोनों की जाति तो एक ही है; परन्तु फिर भी आप तो काफी फले-फूले और प्रसन्नचित नजर आते हैं; जबकि मेरी तो उदासी ही दूर नहीं हो पाती। आपके ऊपर तो आनन्ददायी मधुररस से भरे पके हुए फल लगे हुए हैं; परन्तु मैं तो आनन्ददायी रस फलों से रीता ही हूँ।

"अभी तुम में चारित्ररूपी विकास की कमी है न! इसलिये तुममें आनन्ददायी फल नहीं लगे हैं। आनन्ददायी फलों की प्राप्ति तो चारित्ररूपी विकास से ही संभव है। जब तुम भी मेरे जैसा चारित्ररूपी विकास प्राप्त कर लोगे, तब तुम्हारे ऊपर भी आनन्ददायी फल लगने लगेंगे। तुम्हारी उदासी दूर होगी और तुम्हारा अन्तरंग आनन्द से भर जायेगा।" विशालकाय, चारित्रवंत आमवृक्ष ने कहा।

"इसके लिये मुझे क्या करना होगा?"

"तुम अपनी श्रद्धारूपी जड़ों को मजबूत करते रहो। तुम्हारी श्रद्धारूपी जड़ें जितनी गहरी होंगी, उतना ही तुम्हारा चारित्ररूपी विकास भी मजबूत होगा; क्योंकि श्रद्धारूपी जड़ों के आधार से ही चारित्ररूपी विशालकाय वृक्ष टिका रह सकता है। बिना जड़ों के वृक्ष का विकास और स्थायित्व संभव ही नहीं है। धर्मवृक्ष का मूल तो श्रद्धा की जड़ें ही हैं।"

पुण्योदय अथवा पापोदय और शुभ अथवा अशुभ भाव रूप, चाहे जैसे आँधी अथवा तूफान क्यों न आयें; तुम अपनी श्रद्धारूपी जड़ों को मजबूती से थामे रखना, फिर दुनिया की

कोई भी ताकत आँधी-तूफान तुम्हें नहीं उखाड़ सकते, तुम्हें चारित्रवंत होने से नहीं रोक सकते। तुम्हारा विकास होगा और अवश्य होगा। आनन्द-फलों की प्राप्ति तुम्हें अवश्यमेव होगी – विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष ने समझाया।

"सो तो है ही, चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन ही तो है, यह बात तो मुझे बहुत अच्छी तरह मालूम है और मेरी भी श्रद्धाजड़ें कोई कम मजबूत थोड़े ही हैं। दूर-दूर तक जमीन में फैली हुई हैं। जड़ों की मजबूती का महत्त्व तो मुझे अच्छी तरह से मालूम है; परन्तु चारित्ररूपी विकास की प्राप्ति के लिये इसके अलावा भी क्या और कुछ करना होगा? मैं तो यह जानना चाहता हूँ" – श्रद्धावंत छोटे आम के पेड़ ने पूछा।

"हाँ, अपने उपयोग की चंचलता को कम करना होगा। तुम्हारा उपयोग अभी चंचल बहुत है। मामूली-सी गर्मी अथवा हवा लगते ही तुम प्रभावित हो जाते हो। अभी तुम बच्चे हो न इसलिये! अपने उपयोग की इस चंचलता को दूर करने के लिये बाह्य संयम को अंगीकार करना भी तुम्हारे लिये अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि जबतक पंचेन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति बनी रहेगी, तबतक उपयोग उन विषयों के सम्मुख ही भटकता रहेगा, तब उसे स्वभावसम्मुख होने का अवसर ही कब मिलेगा? उपयोग में चंचलता बनी ही रहेगी और ऐसी हालत में स्वात्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले आनन्द में वृद्धि होने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। तुम तो अपने आनन्द को बढ़ाना चाहते हो न?"

आनन्दफलों की वृद्धि के लिये बाह्य संयम को अंगीकार करना बहुत ही जरूरी है। तुम बाह्य संयम को अंगीकार करके तत्त्वचिन्तन-मनन रूपी हवा, पानी, धूप से अपनी आत्मा को पुष्ट करो। अवश्य ही तुम्हारे अंतरंग आनन्द में वृद्धि होगी

तथा तुम्हारे अंतरंग चारित्र का विकास होगा जो कि वास्तविक चारित्र है। ऐसा चारित्र प्रगट होने पर सर्दी-गर्मी-वर्षा-हवा आदि के उपद्रव भी तुम्हें प्रभावित नहीं कर पायेंगे, तुम्हारे आनन्द को भंग नहीं कर पायेंगे और तुम परमसुखी हो जाओगे। विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष ने कहा।

"सच! अरे वाह! फिर तो बड़ा ही मजा आयेगा। कितने सुखद होंगे वे क्षण, जब दिन-रात निजआत्मा का ही चिन्तन-मनन-घोलन हुआ करेगा। कितनी निराकुलता होगी

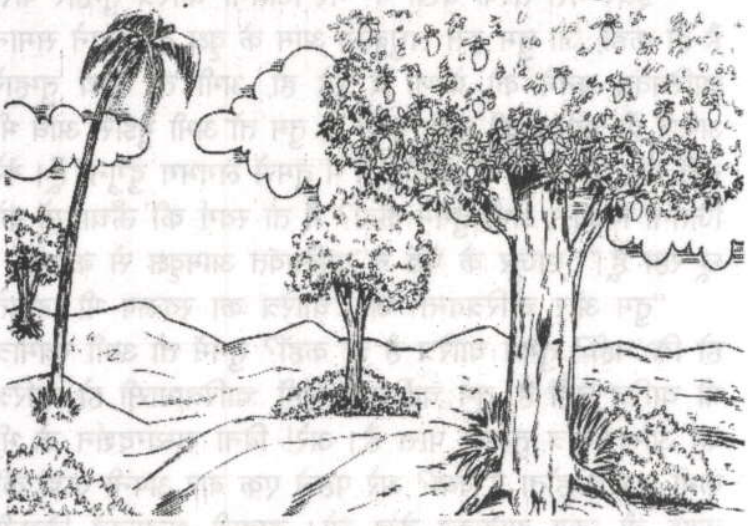

तब, जब स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा सिर्फ ज्ञान का ही रसास्वादन हुआ करेगा। ओहो कितना मजा आयेगा मैं भी आपकी ही तरह चारित्रवन्त बन जाऊँगा। आपके जितने विकास को प्राप्त कर लूँगा और मेरे ऊपर भी मधुर सरस आनन्ददायी फल लगने लगेंगे। क्यों दादाजी है न?" – श्रद्धावन्त आमवृक्ष ने प्रसन्न होते हुए कहा।

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं? बिल्कुल सही बात है" विशालकाय चारित्रवन्त आमवृक्ष ने फरमाया।

"सही बात नहीं। गलत बात कहो, गलत बात, बिल्कुल ही गलत बात।" खजूर का पेड़ जो कि अबतक चुप्पी साधकर उन दोनों की बातों को सुन रहा था वह अधीर होते हुए बोला।

खजूर के पेड़ की बात सुनकर दोनों आमवृक्षों ने चौंकते हुए आवाज की तरफ देखा तो पास वाली ऊँची टैकरी पर खड़े हुए लम्बे खजूर महाशय उनको दिखायी दिये।

"क्यों भई खजूर! इसमें हमने क्या गलत कहा?" चारित्रवंत आमवृक्ष ने खजूर के पेड़ से पूछा।

"इधर मेरी तरफ देखो न! मेरे जितना चारित्र तुम्हारे पास है ही कहाँ; जो तुम इस लघुकाय आम के वृक्ष को अपने समान चारित्रवंत बनने की प्रेरणा दे रहे हो, अभी तो स्वयं तुम्हारे अन्दर ही चारित्र की बहुत कमी है, तुम तो अभी मुझसे आधे भी नहीं हो। यह देखो न, ऊँचाई में मैं तुमसे लगभग दुगुना हूँ। मेरे जितना विकास अभी तुममें कहाँ? मैं तो स्वर्ग की ऊँचाइयों को छू रहा हूँ।" खजूर के पेड़ ने चारित्रवंत आमवृक्ष से कहा।

"तुम और चारित्रवन्त! अरे, चारित्र का स्वरूप भी जानते हो कि नहीं? तुममें चारित्र है ही कहाँ? तुममें तो अभी रंचमात्र भी चारित्र नहीं है, तुम चारित्रवंत नहीं, चारित्राभासी हो चारित्र का आभासमात्र तुम्हारे पास है। अरे! बिना सम्यग्दर्शन के भी कभी चारित्र होता है क्या? अरे पहले एक बार अपनी जड़ों की तरफ तो जरा झांककर देख लो। तुम्हारी श्रद्धाजड़ें कितनी कमजोर हैं। तुम्हारी जड़ें कितनी छोटी-छोटी हैं और वह भी जमीन से बाहर निकल आयी हैं। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारा ये तथाकथित चारित्र धड़ाम से नीचे जमीन पर आ गिरे।"

"खबरदार! तुम हमारे चारित्र की हँसी उड़ाते हो, हमारे चारित्र को तथाकथित चारित्र कहते हो। यदि हमारे पास चारित्र नहीं है तो क्या बिना चारित्र के ही हम इतने ऊँचे उठ गये हैं? देखो न!. हमारे ऊपर भी फल लगे हुए हैं। स्वर्ग की ऊँचाइयों को हम छू रहे हैं। स्वर्ग-फल को हम प्राप्त हुए हैं।

क्या यह सब बिना चारित्र के ही संभव है?" – खजूर के पेड़ ने तेश (क्रोधावेश) में आकर कहा।

"स्वर्ग के फलों को तो आत्मज्ञानशून्य, निश्चय रत्नत्रय से रहित (वास्तविक चारित्र से रहित) अज्ञानी भी प्राप्त कर लेते हैं। इसमें कौनसी बड़ी बात है? अरे! तुम तो सिर्फ बाह्य संयम को ही चारित्र समझ रहे हो, अंतरंग का तुम्हें कुछ भान ही नहीं है। व्रत-तप रूप बाह्य संयम के आधार से स्वर्ग की प्राप्ति तो हो सकती है; परन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं। स्वर्ग-फल की प्राप्ति तो तुम जैसे मूढ़ों को भी सुलभ है, परन्तु मोक्ष-फल की नहीं।

मोक्ष-फल की प्राप्ति तो स्वसंवेदनरूप आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान और आत्मरमणतारूप चारित्र से ही संभव है और उसका भी मूल (जड़) सम्यग्दर्शन है, जो कि तुम्हारे नहीं है। उसके स्वरूप की तो तुम्हें कुछ खबर ही नहीं।" – विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष ने संयत रहते हुए कहा।

"अरे, तो क्या हुआ? – स्वर्ग की उपलब्धि भी कोई कम उपलब्धि नहीं है। स्वर्ग भी बिना पुरुषार्थ के मिलता है क्या? इसको प्राप्त करने के लिये भी कड़े संयम को पालन करने की आवश्यकता होती है।" – मूढ़वंत खजूर के पेड़ ने कहा।

"अरे! तुम जिसे महान् पुरुषार्थ की वस्तु समझते हो, वह तो हम जैसे आत्मज्ञानियों को सहज में ही प्राप्त हो जाता है। वह तो विकार का फल है। विकार का पुरुषार्थ भी कोई पुरुषार्थ है ? अरे! तुम तो शुभराग को ही (पुण्य को ही) पुरुषार्थ समझ रहे हो। शुभभाव तो जीवों को अनादि से ही सुलभ है। पुरुषार्थ तो वीतरागभाव की प्राप्ति में है, शुभभाव की प्राप्ति में नहीं।

क्या तुम नहीं जानते कि जो शुभभावरूप बाह्य संयम (राग) का ही रुचिपूर्वक पालन करके स्वर्ग के सुखों का भोग करते हैं, उनकी अन्ततोगत्वा अशुभभावरूप परिणति होकर के फिर निगोद की हवा खानी पड़ती है; क्योंकि त्रस पर्याय का अधिकतम काल भी मात्र दो हजार सागर ही है न!

शुभ की रुचि ही अशुभ का कारण है। मन्दराग की रुचि ही तीव्रराग का कारण है।

देखो न! जहाँ एक ओर तुम्हारे ऊपर स्वर्ग के फल (खजूर) लगे हुए हैं, वहीं दूसरी तरफ नरक-निगोद के प्रतिरूप लम्बे-लम्बे नुकीले काँटे भी तो ऊगे हुए हैं। ये इस बात के प्रतीक हैं कि स्वर्ग के सुखों की चाह में ही कहीं नरक-निगोद के काँटेदार बीज पड़े हुए हैं। स्वर्ग के सुख तो क्षणस्थायी (क्षण-भंगुर) हैं। पुण्य का क्षय होते ही तुम फिर से नरक-निगोद में जा गिरोगे। तुम्हारा ये बाह्य संयम और उसका फल, ये सब देखते ही देखते नाश को प्राप्त हो जायेंगे।

अरे संयमी बनो! पर अन्तरंग संयमी बनो! आत्मदृष्टि पूर्वक संयमी बनो! अपने आत्मा को भी तो देखो! जानो! समझो! – विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष ने कहा।

"ये आत्मा-वात्मा तो हम कुछ नहीं जानते। हम तो इतना जानते हैं कि हम संयमी हैं और संयम में तुमसे ज्यादा आगे हैं, हम ऊंचे हैं और ऊंचे रहेंगे।" – मूढ़वंत खजूर के पेड़ ने उपेक्षापूर्वक कहा।

"देखते हैं तुम्हारा ये तथाकथित संयम कहाँ तक तुम्हारा साथ देता है।" – चारित्रवंत आमवृक्ष ने कहा।

बहुत सारा काल व्यतीत हुआ, फिर एक दिन हवा चली, तूफान आया, आँधी आयी, बड़े-बड़े ओले गिरे, देखते ही देखते मूसलाधार वर्षा होने लगी। कुछ ही समय में नदी-नालों में बाढ़ आ गयी। हवा का एक जबरदस्त झोंका आया और उस झोंके के साथ ही टैकरीवाला खजूर का पेड तो जड़-मूल से उखड़कर पासवाली नदी में जा गिरा और तेज बहाव में बहकर समुद्र में जा गिरा। घोर संसार-समुद्र में कहीं डूब गया; परन्तु लघुकाय श्रद्धावंत आम का पेड़ तो आज स्वयं ही विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष के समकक्ष खड़ा हुआ है और आनन्दफलों का रसास्वादन कर रहा है। ●

दर्पण का सन्देश

सभी धर्मप्रेमी लोग दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, चिन्तन, मनन वगैरह कार्यों से निवृत्त होकर मन्दिरजी से अपने-अपने घरों को चले गये तो मन्दिरजी में एकदम सन्नाटा व्याप्त हो गया। कुछ समय पहले तक का कोलाहल इस समय एकदम सन्नाटे में बदल चुका था। कोलाहल का स्थान सन्नाटे ने ले लिया था।

ऐसे में अचानक ही सन्नाटे को चीरते हुए किसी की सिसकियाँ उभरने लगीं।

"अरी घंटी बहन! क्या बात है? तुम रो क्यों रही हो?" घंटी को रोते हुए देखकर वहाँ पास ही के एक कोने में पड़े हुए ढोलक व हारमोनियम ने पूछा।

"आज तो मेरी बहुत ही ज्यादा पिटाई हो गई। अभिषेक के समय तो मुझे बहुत ही जोर-जोर से पीटा गया। मेरे तो सारे अंग-अंग में बहुत ही जोरों से दर्द हो रहा है। कितने कृतघ्नी लोग हैं ये। अपने उपकारी को ही ये पीटते हैं। मैं लोगों का कितना उपकार करती हूँ। सुबह-शाम सही समय पर बजकर लोगों को मन्दिरजी में आने के लिए आह्वान करती हूँ। बज-बज कर भगवान को भी जगाती हूँ, परन्तु फिर भी मेरी ही पिटाई और वह भी इतनी जोर से।" घंटी ने रोते हुए अपनी दुःखभरी दास्तान सुनायी।

"पिटाई! पिटाई तो आज मेरी भी बहुत ही ज्यादा हुई। पूजन व नृत्य के समय मुझे भी बहुत ही जोर-जोर से पीटा गया। लोग जब देखो तब मुझे जोर-जोर से पीटते रहते हैं। सचमुच में ये लोग बड़े ही कृतघ्नी हैं। मैं लोगों को नचाने का कार्य करती हूँ। लोगों के कानों में प्रिय लगनेवाली आवाज मैं निकालती हूँ, लेकिन फिर भी मेरी जोर-जोर से पिटाई।"

ढोलक ने कहा और वह भी हौले-हौले से रोने लगी।

"मेरे अन्दर भी हवा भरी गई। मुझे छेड़ा गया। नृत्य के समय मेरे में जोर-जोर से हवा भरी गई और अंगुलियों के द्वारा मुझे कुरेदा गया। ये बच्चे लोग जब देखो तब मुझे अंगुली करते रहते हैं। मैं लोगों को सरगम सुनाता हूँ, उन्हें नचाता हूँ लेकिन फिर भी मेरे साथ ऐसा व्यवहार।" हारमोनियम ने कहा और वह भी रोने लगा।

मंजीरों ने भी कुछ ऐसी ही अपनी दास्तान सुनाई और वह भी उनके साथ शरीक होकर रोने लगे।

और अब, वे सब मिलकर बड़े ही जोर-जोर से रोने लगे।

"अरे भई, चुप हो जाओ, चुप हो जाओ। रोते क्यों हो?"

आवाज सुनकर वे सब चुप हो गये और देखने लगे कि यह आवाज कहाँ से आई। उन्हें सांत्वना देनेवाला कौन है?

"मैं दर्पण बोल रहा हूँ। क्या बात है? तुम लोग इतनी जोर-जोर से रो क्यों रहे हो?" वहीं पास की एक दीवार में जड़े हुए दर्पण ने कहा।

"हम लोग लोगों का इतना सारा उपकार करते हैं फिर भी हमारी पिटाई होती है। हम रोये नहीं तो क्या करें?" दर्पण की बात सुनकर घंटी बोली।

"जो करते हैं वे ही तो मरते हैं। जो करने का दम भरते है, वे ही तो पिटते हैं। यद्यपि कोई किसी पर का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है, सब अपने-अपने भावों के ही कर्त्ता-धर्त्ता हैं; परन्तु फिर भी जबरदस्ती दूसरों के कार्यों के कर्त्ता-धर्त्ता बनना यही तो अपराध है।"

तुम लोग अपना एक अंश भी उन लोगों के अन्दर मिलाते नहीं हो, फिर तुम उनके उपकार कर्त्ता कैसे हो गये? जो लोग तुम्हें सुनकर दौड़े चले आते हैं, नाचते हैं अथवा खुश होते हैं वे

अपनी-अपनी स्वयं की योग्यता से ही होते हैं, तुम्हारे कारण से नहीं। यदि तुम्हारे ही कारण से होते तो तुम्हें सुननेवाले सभी लोग क्यों नहीं नाचने लग जाते और दौड़ कर चले आते?

वस्तुतः बात तो यह है तुम स्वयं अपने ही भावों के कर्त्ता हो, उनके भावों के नहीं। सभी द्रव्य न्यारे-न्यारे हैं और अपने-अपने भावों के ही कर्त्ता-धर्त्ता हैं।

जो परद्रव्यों के कर्त्ता-धर्त्ता बनते हैं वे तो पिटते ही रहेंगे। चार गति और चौरासी लाख योनियों में उनकी तो सर्वत्र पिटाई होती ही रहेगी।

मुझे देखो न! मैं कुछ भी नहीं करता तो मुझे कोई पीटता भी नहीं है। सभी लोग मेरे सामने आकर खड़े होते हैं, अपना रूप देखते हैं और मुझे छेड़े बिना ही चल देते हैं। 'छेड़खानी एवं पिटाई से बचना है तो कर्त्ता नहीं, ज्ञाता बनो। मेरी तरह।'

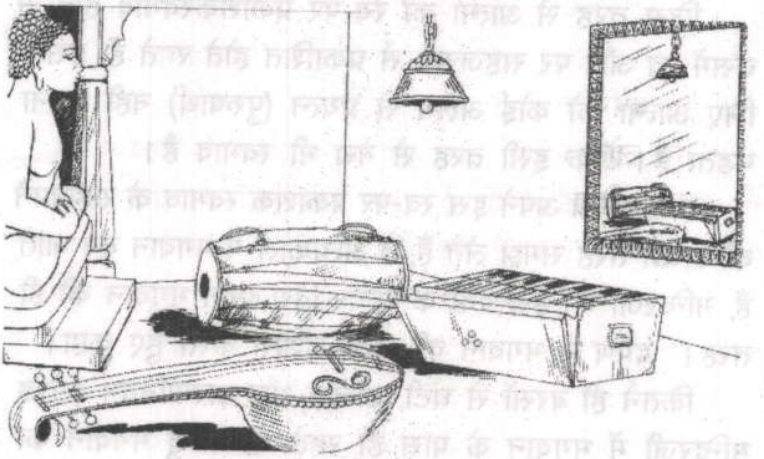

– दर्पण ने कहा।

"तो क्या आप कुछ भी नहीं करते?" आश्चर्य व्यक्त करते हुए ढोलक ने पूछा।

"करता तो हूँ लेकिन अपने स्वभावभोग का कर्त्ता हूँ पर का कर्त्ता

नहीं हूँ। स्व और पर को प्रकाशित करना ही मेरा स्वभाव है। स्व -पर को प्रकाशित करने का कार्य मैं करता हूँ।" – दर्पण ने कहा।

"स्व और पर को प्रकाशित करने का कार्य भी आखिर आप करते तो हो ही न। इस तरह से तो आप भी कर्त्ता ही ठहरे।" हारमोनियम ने कहा। वह भी कोई कम बुद्धिमान थोड़े ही था।

"यह तो मेरा सहज कर्तृत्व है। स्व और पर सहजरूप से ही मुझ में झलकते हैं, इसके लिये मुझे कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यह तो मेरा सहजस्वभाव ही है। ऐसा नहीं है कि मैं कुछ प्रयत्न करूँ तो ही स्व-पर झलकते रहें और प्रयत्न करना बन्द कर दूँ तो स्व-पर झलकना बन्द हो जायें। स्व और पर को प्रकाशित करने का कार्य मैं करता हूँ, यह तो कथनमात्र है, वास्तविकता तो यह है कि ये सब सहजरूप से ही प्रकाशित होते रहते हैं, करना कुछ भी नहीं है।"

जिस तरह से आत्मा का स्व-पर प्रकाशकस्वभाव होने से उसमें स्व और पर सहजरूप से प्रकाशित होते रहते हैं, इसके लिए आत्मा को कोई अलग से प्रयत्न (पुरुषार्थ) नहीं करना पड़ता है। ठीक इसी तरह से मेरा भी स्वभाव है।

"जो आत्मा अपने इस स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के सहजपने को अच्छी तरह समझ लेते हैं, वे अल्पकाल में भगवान बन जाते हैं, मन्दिरजी की इस वेदी के अन्दर विराजमान भगवान की ही तरह।" दर्पण ने भगवान की तरफ इशारा करते हुए कहा।

कितने ही बरसों से घंटी, ढोलक और हारमोनियम वगैरह मन्दिरजी में भगवान के पास ही रहते थे, परन्तु भगवान का सही स्वरूप आज उनकी समझ में आया कि भगवान भी सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा ही हैं, कर्त्ता-हर्त्ता नहीं।

उन्होंने दर्पण को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया और रोना-धोना छोड़कर अपने-अपने स्वरूप में मग्न हो गये। ●

एक सोहन और एक मोहन

सोहन और मोहन दोनों एक ही माँ के बेटे हैं। दोनों का रंग-रूप, नाक-नक्श, कद-काठी सब एक जैसा, दोनों का जन्म भी एक ही साथ हुआ। दोनों में इतनी समानता है कि लोग दोनों को पहचानने में भी कभी-कभी गलती कर बैठते हैं।

इतना सब कुछ दोनों में एक जैसा होने पर भी दोनों में एक भारी अन्तर है और वह है मान्यता का। दोनों की मान्यता में जमीन-आसमान का अन्तर है। आरम्भ के 23-25 साल तक तो दोनों की मान्यताओं में भी कोई अन्तर नहीं था। दोनों का ही ऐसा मानना था कि सबको सुखी व दुःखी करनेवाला भगवान है। भगवान जैसा करे वैसा ही होता है। सबकुछ किया कराया भगवान का ही है और इसलिए शुरू से ही दोनों सवेरे प्रतिदिन अगरबत्ती और घी का दिया जलाकर आधा घंटा भगवान की पूजा-भक्ति करते, तरह-तरह की मनौतियाँ मनाते और फिर उसके बाद ही अन्य कार्यों में संलग्न होते। आरंभ में तो दोनों का एक ही जैसा मानना था कि खाने-पीने, घूमने-फिरने और पाँच इन्द्रियों के भोग भोगने में ही सच्चा सुख है और इसीलिए दोनों के सारे क्रियाकलाप उस भौतिक सुख को लक्ष्य में रखकर ही होते थे; परन्तु 25 साल की उम्र होते-होते सोहन की मान्यता में अन्तर आने लगा। ज्यों-ज्यों धार्मिक ग्रन्थों का उसका स्वाध्याय बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसकी यह दृढ़ मान्यता होती गयी कि सबको सुखी व दुःखी करनेवाला भगवान नहीं है। भगवान का किया कराया कुछ भी नहीं है। भगवान जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं, मात्र अलिप्त भाव से ज्ञाता-द्रष्टा है। प्राणियों को सुख व दुःख अपने-अपने पूर्वकृत परिणामों (कर्मों) के अनुसार व वर्तमान के

परिणामों के अनुसार स्वयमेव ही प्राकृतिक रूप से मिलते रहते हैं। उसकी दृढ़ मान्यता यह हो गई कि आत्मिक (आध्यात्मिक) सुख ही सच्चा सुख है। भौतिक सुख पराधीन क्षणिक एवं आगामीकाल के लिए दुःखों का कारण है और एक दिन भेद-विज्ञान के बल पर सोहन ने तो निज शुद्धात्मजनित आत्मिक सुख का स्वाद भी चख लिया; पर मोहन की मान्यता तो अभी भी पूर्ववत् ही बनी हुई है। सोहन को तो स्वाध्याय से प्रयोजन है; पर मोहन को स्वाध्याय से कोई प्रयोजन नहीं है। उसे तो बस भौतिक उपलब्धियों से ही प्रयोजन है। भौतिक साधनों की पूर्ति के लिए दिन-रात नैतिक एवं अनैतिक सभी तरीकों से धन कमाना ही उसका एकमात्र उद्देश्य है तथा उसका दूसरा उद्देश्य पाँचों इन्द्रियों के विषयों का मनमाने तरीके से भोग करना है और इन सब कार्यों की पूर्ति भगवान की कृपा से होती है, ऐसी उसकी मान्यता है; इसलिए रोज आधा घन्टा भगवान की भक्ति-पूजा करना उसका एक मुख्य धार्मिक कार्य है।

प्रतिदिन स्वाध्याय, चिन्तन, मनन एवं आत्मानुभव के अलावा भगवान की पूजा एवं भक्ति तो सोहन भी करता है; परन्तु भगवान की भक्ति एवं पूजा करने के पीछे भौतिक सुख-सम्पदा को प्राप्त करने का उसका कोई प्रयोजन नहीं है। मात्र उन्हीं के समान (भगवान के समान) स्वयं को बनाने के प्रयोजन से आदर्श के रूप में उनकी (भगवान की) पूजा एवं भक्ति करता है। उनको देखकर स्वयं को भी उनके समान बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस प्रयोजन से ही सोहन भगवान का गुणानुवाद करता है। सोहन की तो दृढ़ मान्यता यही है कि धन-सम्पत्ति एवं भोगों की उपलब्धि तो पूर्वकृत पुण्यकर्म के उदय से स्वयमेव ही प्राप्त होती है। सोहन भी न्याय से प्राप्त भोगों में

संलग्न तो होता है; परन्तु उसके जीवन का अन्तिम लक्ष्य धन कमाना एवं पंचेन्द्रिय के विषयों का भोग करना नहीं है। उसके जीवन का चरमलक्ष्य तो आध्यात्मिक साधना ही है।

अपने भाई मोहन की दिन-रात खरे-खोटे तरीकों से धन कमाने एवं विषय-भोगों में मस्त रहने की खोटी प्रवृत्ति को देखकर सोहन ने एक दिन मोहन को टोका – देख! तू समझता होगा कि अधिकाधिक धन कमाकर एक दिन मैं पूर्ण सुखी हो जाऊँगा, पर धन ही तो सब कुछ है नहीं। पूर्व का पुण्य पल्ले होगा तो धन तो बहुत मिल जायेगा और पुण्योदय न होगा तो तू दिन–रात एक कर देगा फिर भी धन तो मिलनेवाला है नहीं, उल्टा जो है वह भी नष्ट हो जायेगा। इसलिए धन के पीछे पागल मत हो और थोड़ा स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्यों के लिए समय निकाल। खाली आधा घण्टे भर भगवान की पूजा -भक्ति कर देने से ही तो काम चलनेवाला है नहीं। धन कमाने के खोटे परिणाम कर-करके नरक में जाना पड़ेगा या फिर मर-पच कर भी धन कमाने की अपार ममता के कारण उसी धन के खजाने में साँप बनकर उसकी ही रखवाली में रहना पड़ेगा।

मोहन को अपने भाई सोहन की हिदायत अच्छी नहीं लगी। वह मन ही मन सोचने लगा – "सोहन मेरे बढ़ते धन को देखकर जल रहा है। मेरे व्यापार के कारण से उसका व्यापार ठप्प हो रहा है, इसलिए ऐसी बातें कर रहा है। ऐसा सोच कर मोहन अपने भाई की हिदायत को अनसुनी करते हुए उल्टे सोहन को ही हमदर्दीपूर्वक समझाने लगा – देख! मैं पिछले कई सालों से हर रविवार को पार्श्वनाथ भगवान की पूजा कर रहा हूँ, इसलिए भगवान ने खुश होकर मेरे को इतना धन दिया है। तू भी ऐसा ही कर तो तेरे भी धन बढ़ जायेगा।"

मोहन की बात सुनकर सोहन धक् से रह गया। उसे इस

बात पर बड़ा आश्चर्य और दुःख हुआ कि मोहन धन आदि का देनेवाला अभीतक भगवान को ही समझ रहा है। उसने मोहन

को समझाने का बहुत प्रयत्न किया कि भगवान तो कुछ भी नहीं देता, वह तो वीतराग एवं ज्ञाता-द्रष्टा है; पर मोहन की समझ में कुछ भी नहीं बैठा। सोहन की बात सुनकर पहले तो वह आश्चर्यचकित हुआ फिर उसकी बात पर अविश्वास करता हुआ वहां से चलता बना।

मोहन का धन ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों उसका यह विश्वास और भी दृढ़ होता गया कि यह सब भगवान की पूजा एवं उनकी मेहरबानी का ही फल है। अपने भाई के प्रति भी उसे अश्रद्धा हो गई। न सिर्फ अश्रद्धा हो गयी; बल्कि उसे नास्तिक एवं अज्ञानी भी समझ बैठा; परन्तु धीरे-धीरे उसकी आय में घाटा होने लगा। उसका सारा जमा धन धीरे-धीरे नष्ट होने लगा। पत्नी, बच्चे आदि बीमार हो गये, जिनके इलाज के पीछे बहुत सारा रुपया नष्ट हो गया। तथा बहुत सारा धन एक दिन रात को चोरी में चला गया तथा कितना ही धन देनदार हड़प गये। इसप्रकार अचानक उसके जीवन में बुरे दिन आ गये। वृद्धावस्था भी धीरे-धीरे नजदीक आने लगी थी। सिर के कोई-कोई बाल सफेद दिखने लगे। स्वास्थ्य भी आये दिन बिगड़ता जा रहा था और इन सब बातों का कारण उसने यह समझा कि भगवान नाराज हो गये हैं।

भगवान को खुश करने में भी उसने कोई कसर नहीं छोड़ी। तरह-तरह की मनौतियां मनायीं और कहा कि – 'भगवान मेरे संकट दूर कर दे तो तेरे मन्दिर में सोने का छत्र बनवाकर चढ़ाऊं' परन्तु फिर भी कोई फायदा नहीं हुआ। उसने एक ही नहीं, सभीप्रकार के देवी-देवताओं की पूजा की। जिस किसी भी देवता की महिमा उसने लोगों के मुख से सुनी, उसी देवता के द्वार पर जाकर दरवाजा खटखटाया। देवी-देवताओं को खुश करने के उसने सभी प्रयत्न किये; परन्तु उसको कोई भी फायदा नहीं हुआ; बल्कि उन ही दिनों उसका इकलौता पुत्र भी मर गया। थक-हारकर निराश हो गया। अब वह यह सोचने केलिए मजबूर हो गया कि क्या वास्तव में सुख-दुःख देनेवाला कोई भगवान अथवा देवी-देवता नहीं है? तब लौकिक सुख व दुःख का देनेवाला कौन है? धीरे-धीरे उसके दिमाग में यह बात घर करने लगी कि सुख-दुःख का देनेवाला भगवान नहीं है। भगवान वीतराग और ज्ञाता-द्रष्टा हैं। लौकिक सुख-दुःख तो पूर्व में स्वयं कृत पुण्य एवं पाप के अनुसार स्वयमेव ही फलते हैं। किसी भी देवी-देवता में किसी को भी सुखी-दुःखी कर सकने की सामर्थ्य नहीं है। अपनी विशेष-विशेष जिज्ञासा को शान्त करने के लिए मोहन हमेशा रात्रि को अपने भाई सोहन के घर जाने लगा। वहाँ सोहन ने एक दिन चर्चा के दौरान एक महत्त्वपूर्ण बात यह बतायी कि लौकिक (भौतिक) सुख व दुःख तो पूर्वकृत पुण्य एवं पाप के अनुसार फलते हैं; परन्तु आत्मिक (आध्यात्मिक) सुख तो वर्तमान के ही स्वभावसन्मुखपुरुषार्थ के द्वारा तत्काल ही प्रगट होता है जो कि वास्तविक सुख है। तथा दुःख की सत्ता का सदा-सदा के लिए जड़मूल से ही नाश करनेवाला है। सोहन की बातें सुनकर मोहन को अब बहुत आनन्द आता था। स्वाध्याय में भी अब उसकी रुचि जाग्रत हो चुकी थी। ●

परोपकार

मित्र सूरजमल और मेरी मान्यता में तो जमीन-आसमान का अन्तर था; फिर भी मेरा सूरजमल के साथ मित्रता का नाता बरसों से स्थापित हो चुका था। पड़ौसी के नाते भी और बचपन से ही सहपाठी के नाते से भी। कहीं आना-जाना, घूमना-फिरना, उठना-बैठना आदि अक्सर साथ-साथ हो जाया करता था और इसी वजह से कभी-कभी किन्हीं-किन्हीं खास विषयों पर चर्चा भी हो जाया करती थी। विशेष कर धार्मिक विषयों पर। सूरजमल की तो धार्मिक विषयों में कोई विशेष रुचि नहीं थी; लेकिन मुझे तो धर्मरुचिसम्पन्न होने का सौभाग्य प्राप्त था।

जिनेन्द्र भगवान कथित जिनवाणी के स्वाध्याय से एवं उनके द्वारा कथित तत्त्वों के चिंतन-मनन एवं मंथन के कारण से मैं तो अपने आपको काफी गौरवान्वित महसूस करता था; लेकिन सूरजमल के लिये इन सब बातों से कोई सरोकार नहीं था।

धर्म के सम्बन्ध में उसका तो इतना ही कहना था – कि परोपकार और जीवदया से बड़ा और कोई धर्म नहीं है।

यद्यपि मैं स्वयं भी परोपकार और जीव दया का कोई विरोधी नही हूँ; परन्तु जिनेन्द्रकथित तत्त्वों के अभ्यास से मैं इस बात को भी भलीप्रकार से जानता हूँ कि वस्तुतः तो कोई किसी का परोपकार कर ही नहीं सकता, जबकि सूरजमल इस बात से पूरी तरह से अनभिज्ञ था। यही हम दोनों में मुख्य अन्तर है। यद्यपि परोपकार और जीवदया कि भावना यें एवं आचरण हम दोनों में समानरूप से पाये जाते हैं; परन्तु परोपकार और जीवदया को करते हुए भी मैं उसे अपने लिये कोई बड़ी उपलब्धि नहीं मानता; जबकि सूरजमल इसे ही सब कुछ

मानकर सन्तुष्ट हो रहा है। परोपकार और जीवदया को ही सबसे बड़ी उपलब्धि मान रहा है।

मेरे लिये मेरे जीवन में अहम् की वस्तु है स्वाध्याय, चिंतन-मनन, आत्मानुभव एवं संयम; पर सूरजमल के लिये इन सब बातों से कोई मतलब नहीं है, सिवाय परोपकार एवं परोपकार की रट के।

आम तौर पर उसके उपकार के पात्र भी कोई बनते थे तो वे थे कुत्ते और कबूतर। स्वयं के भोजन के पश्चात् कुत्तों को रोटी खिलाना, कबूतरों को दाना डालना वह अपना परम कर्त्तव्य समझता था। कुत्तों व कबूतरों को रोटी/दाना डाल चुकने के बाद बड़ी सन्तुष्टि के साथ वह मुझसे कहता – इसके समान दूसरा और कोई धर्म नहीं है।

मैं चुप रहता। धर्म के सम्बन्ध में कहने के लिये तो बहुत कुछ था मेरे पास; पर मैं सोचता – भैंस के आगे बीन बजाने से क्या लाभ? सामान्य लोगों के सामने वीतरागी जैनतत्त्व और धर्म के सम्बन्ध में कुछ कहना भैंस के आगे बीन बजाने जैसा ही तो है।

लेकिन एक दिन कुत्तों को रोटी डाल चुकने के बाद उसने अपने उसी चिरपरिचित अन्दाज़ में कहा कि – "इसके समान बड़ा और कोई धर्म नहीं है। तो मेरे मुख से अनायास ही निकल पड़ा – "अरे भई! इसमें कोई धर्म-वर्म नहीं है। यह तो पुण्य है। धर्म तो कोई अलग ही वस्तु है। धर्म तो वीतरागपरिणति का नाम है जो कि निज शुद्धात्मा के अनुभवपूर्वक ही प्रगट होती है।"

मेरी बात सुनकर वह आश्चर्य व्यक्त करते हुए बोला – तो फिर पुण्य क्या है? और धर्म क्या है? क्या यह दोनों अलग-अलग हैं?

शायद उसने अपने जीवन में पहली बार ही यह सुना था कि पुण्य अलग है और धर्म अलग। लेकिन इस बात को नजर अन्दाज़ करते हुए और मुझ पर थोड़ा आक्रोशित होते हुए वह बोला – पुण्य और धर्म एक ही तो हैं। यह तुम कैसी बातें करते हो? कुत्ते को रोटी खिलाना धर्म नही हैं यह किसने कहा?

उसका आक्रोशित होना स्वाभाविक था; क्योंकि उसकी इकलौती धार्मिक क्रिया पर ही तो प्रहार हुआ था; लेकिन अब मैने इससे ज्यादा उलझना ठीक नहीं समझा। बात को टालने के उद्देश्य से मैं बोला –

"नहीं, नहीं; ऐसी बात नहीं है, इसमें भी धर्म तो है; लेकिन यही सब कुछ नहीं है; इसके अलावा भी बहुत कुछ है, तुम थोड़ा स्वाध्याय के लिये समय निकालो तो तुम्हारी समझ में कुछ आये।"

मेरी बात को सुनकर मेरी बात का उपहास उड़ाते हुए वह बोला – तुम स्वाध्याय की बात करते हो, मेरे लिये तो अभी मरने की भी फुर्सत नहीं है।

एक दिन पुनः परोपकार की रट लगाते हुए उसने कहा – "परोपकार के समान बड़ा और कोई धर्म नहीं है" तो मैने कहा – "बात तो बराबर है लेकिन कोई किसी का उपकार कर भी सकता है या नहीं? इस संबंध में भी तुमने कभी सोचा?"

मेरी बात के भीतर छिपे हुए रहस्य को समझे बिना ही वह झट से बोला – हाँ, हाँ; क्यों नहीं कर सकता? इसमें कौनसी बड़ी बात है? मैं रोजाना कुत्तों को रोटी डालता हूँ, कबूतरों को दाना डालता हूँ। प्रतिदिन मैं किसी न किसी का उपकार तो करता ही हूँ। स्वाध्याय में क्या धरा है। उपकार करना ही सबसे बड़ी बात है। कहा भी है – 'परहित सरिस धर्म नाहे भाई।'

"वास्तव में विचार किया जाये तो कोई किसी का उपकार कर ही नहीं सकता।" मैने कहा

"कैसे नहीं कर सकता? यह कैसी बातें करते हो तुम?" आज फिर मुझ पर आक्रोशित होते हुए वह बोला। तो मैने कहा – "समझाऊँगा कभी, वक्त आने दो।"

महाशय भोजन कर चुकने के पश्चात् रोजाना आवाज लगाकर कुत्तों को बुलाते हैं और रोटी खिलाते हैं। ऐसा करते हुए उनके चेहरे पर अपार सन्तुष्टि का भाव आसानी से देखा जा सकता है। उसकी इस क्रिया को देखकर मुझे कभी-कभी ऐसा आभास होने लगता है कि कहीं यह अपनी अगली पर्याय की रोटी का इंतजाम तो नहीं कर रहा। बहुत संभव है कि इसकी आगामी पर्याय कुत्ते की ही होने की हो और उस पर्याय की रोटी-रोजी के योग्य पुण्य इन कुत्तों को रोटी डालकर कमा रहा हो; क्योंकि इसके इस जीवन में ऐसे अनेक खोटे परिणाम और कर्म भी विद्यमान हैं, जिनका फल शास्त्रों में पशु पर्याय कहा है। मसलन मायाचारी के परिणाम, छल कपट/बेइमानी के परिणाम आदि और इन सब बातों से मैं नावाकिफ़ भी नहीं हूँ। अज्ञानी थोड़ा बहुत पुण्य करके अपने आपको सद्गति का पात्र मानने लगता है; परन्तु वास्तविकता तो कुछ और ही है, जिसे एक स्वाध्यायी, आत्मानुभवी ज्ञानी ही ठीक तरह से समझ सकता है।

एक दिन एक दुबला-पतला मरीयल सा कुत्ता किसी तरह से लंगड़ाता हुआ सूरजमल के आँगन में आया। उसकी ऐसी हालत देखकर हम दोनों को दया आ गयी मैं भी वही बैठा हुआ था। कुत्ते को देखते ही सूरजमल बोला – "बेचारा बहुत भूखा है। अरे बच्चो! रोटी लाओ अन्दर से।"

बच्चे अन्दर गये और रोटी ले आये। सूरजमल ने प्यार से

पुचकारते हुए रोटी कुत्ते के सामने फेंक दी। मरीयल कुत्ता धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए रोटी तक पहुँचा वह रोटी मुँह में लेने ही वाला था कि इसी बीच एक अन्य कुत्ते की नजर उस पर पड़ी। यह हट्टा-कट्टा और बलिष्ठ था। वह जोर से गुर्राया। उसकी गुर्राहट सुनकर मरीयल कुत्ते की हिम्मत ही नहीं हुई रोटी मुँह में लेने की।

और अगले ही पल उस बलिष्ठ कुत्ते ने मरीयल कुत्ते पर छलांग लगाते हुए आक्रमण कर दिया।

हम दोनों घुत्त-घुत्त करते ही रह गये। सूरजमल ने पास ही पड़ा हुआ जूता बलिष्ठ कुत्ते को मारने के उद्देश्य से फेंका लेकिन अफसोस! वह भी उस मरीयल कुत्ते को ही जा लगा।

मरीयल कुत्ते को आहत करने के बाद स्वयं ही रोटी

लेकर बलिष्ठ कुत्ता आराम से उसे खा गया।

यह सब कुछ पलक झपकते ही हो गया। किसी तरह से

बलिष्ठ कुत्ते को वहाँ से भगाया गया। मरीयल कुत्ता वहीं एक कोने में दुबक कर बैठा हुआ था। उसे फिर से रोटी डालने के लिये सूरजमल ने रोटी मंगवानी चाही सो रोटी तो नहीं मिली लेकिन पत्नी की डांट-डपट मिली। वह चिल्लायी – घर में कोई रोटी-वोटी नहीं है। एक रोटी बच्चे के लिये रक्खी थी वह भी कुत्ते को डाल दी। अब रोटी कहाँ है? कुत्तों को रोटी खिला देते हो। अब बच्चे क्या खायें?

चाह कर के भी सूरजमल कुत्ते को रोटी नहीं खिला सका। उसका उपकार नहीं कर सका। खेद तो मुझे भी था; लेकिन फिर भी मेरे पास सब बातों का समाधान भी था। मैं जानता था – बिना पुण्य के उदय के उस मरीयल कुत्ते को रोटी मिलना सम्भव भी तो नहीं था। सामनेवालों के पुण्य के उदय के बिना कोई किसी का उपकार कर भी तो नहीं सकता; लेकिन सूरजमल इस मर्म से अनभिज्ञ था। परोपकार तो करना चाहता था मरीयल कुत्ते का; लेकिन उपकार हो गया बलिष्ठ कुत्ते का।

यद्यपि सूरजमल के लिये आज की इतनी सी घटना यह समझने के लिये पर्याप्त थी कि कोई किसी का उपकार कर ही नहीं सकता; लेकिन उसने माना नहीं। जब मैंने उससे कहा कि – "क्यों अब भी तुम इस बात को नहीं मानोगे कि कोई किसी का उपकार नहीं कर सकता" तो वह बोला – "आज नहीं कर सका तो क्या हुआ रोजाना तो करता ही हूँ।"

"हाँ, करते हो; लेकिन उन्हीं कुत्तों का, जिनका कि उसप्रकार के पुण्य का उदय है। कुत्तों को रोटी उनके पुण्य के उदय से ही मिलती है। तुम उनको रोटी खिलानेवाले नहीं

हो। व्यर्थ में रोटी खिलाने का अभिमान क्यों करते हो? तुम तो अपने भावों के (रोटी खिलाने के परिणामों) के ही कर्त्ता हो। तुम्हारे भाव और प्रयत्न तो उसमें निमित्तमात्र हैं। तुम परोपकार को सर्वोपरी धर्म घोषित करते हो; लेकिन अन्ततः थक-हार करके भी उन्हीं का तो उपकार कर पाओगे जिनका कि उपकार होना है। इस जगत में पाप के उदय की सत्ता भी है और पापियों की सत्ता भी है और सदा काल ही रहेगी। इसलिये आखिर तुम किस-किस का उपकार कर पाओगे यह भी तो सोचो कि जिनको पाप के उदय से दुःखी ही होना है क्या तुम उनको सुखी कर पाओगे? इसी तरह से जिनको पुण्य के उदय से सुखी होना है क्या तुम उनको दुःखी कर पाओगे?

वस्तुतः बात तो यह है कि कोई किसी का उपकार भी नहीं कर सकता और अपकार भी नहीं कर सकता; इसलिये किसी का उपकार अथवा अपकार करने का नाम धर्म नहीं है।

बल्कि पर में कुछ भी नहीं करने का नाम धर्म है। वीतराग परिणति का नाम धर्म है। वह स्वानुभवजनित है और उसी में सच्चा सुख है।

कोई तो दूसरों का अपकार करने में ही उलझे हुए हैं कोई दूसरों का उपकार करने में ही उलझे हुए हैं; लेकिन ऐसे कितने हैं जो कि वीतरागपरिणति के प्रेमी हैं।

दूसरों के ही अपकार अथवा उपकार में उलझने के बजाय आत्महित के लिये भी कुछ कीजिए न! आत्महित का मार्ग भी समझिये न! भेदविज्ञानपूर्वक स्वयं को भी जानने एवं समझने का प्रयास कीजिए न! स्वानुभव कीजिए न! इसके लिए समय क्यों नहीं? तथ्यों को उजागर करते हुए मैंने कहा तो जैसा कि आम तौर पर होता है, सूरजमल ने भी अभिप्राय को नजर

अन्दाज़ करते हुए कहा – "मैं तो और कुछ नहीं जानता। मैं तो इतना जानता हूँ कि परोपकार तो करना चाहिये।"

बेशक करना चाहिये। मैने भी कहा और बात को टालना चाहा; क्योंकि मैं अब इससे ज्यादा उलझना ठीक नहीं समझता था। इससे ज्यादा अब कुछ कहना भैंस के आगे बीन बजाने जैसा ही साबित हो रहा था।

यद्यपि यह बात भी नहीं थी कि मैं उसका उपकार करने का कोई विरोधी रहा होऊँ। यथासंभव उपकार तो मैं भी करता ही हूँ; परन्तु बात इतनी ही है कि मैं उसे कोई धर्म नहीं मानता और न ही इससे कोई बहुत बड़ी उपलब्धि।

बात इतनी ही है कि दूसरों का उपकार करते हुए भी मैं ऐसा नहीं मानता कि मैंने किसी का उपकार किया। मेरा उपकार बगैर किसी वाञ्छा के किया गया उपकार है – जबकि सूरजमल का कथित उपचार वाञ्छायुक्त।

इसके अलावा मेरे जीवन में सर्वश्रेष्ठ उपकार करने का भाव भी विद्यमान है। दूसरे जीवों को उनके आत्मा के हित में लगाने के उद्देश्य से मोक्षमार्ग का उपदेश देना यही तो सर्वश्रेष्ठ उपकार है। तीर्थंकरदेव और गणधरदेव तथा मुनिराज आदि ज्ञानीजन भी तो ऐसा ही उपकार करते हैं। और एक ही पारलौकिक उपकार करने का भाव मेरे जीवन में भी विद्यमान है। इस बात को भलीप्रकार से जानते हुए भी कि कोई किसी का उपकार कर नहीं सकता।

और इन्हीं सब अर्थों में मैं सूरजमल से श्रेष्ठ हूँ; पर सुरजमल इन सब बातों को समझे तब न। समझ अपनी-अपनी।

तत्त्व की इन सब बातों को सूरजमल न समझे तो न सही; परन्तु आप तो समझेंगे ही, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। ●

दृढ़-प्रतीति

'देखने और जानने की शक्ति का धारक जो आत्मा है, वह अनादि-अनन्त है, अर्थात् अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। उसका कभी भी नाश होनेवाला नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस भव के पूर्व भी हमारा अस्तित्व था और इस भव के बाद भी हमारा अस्तित्व रहेगा। यह शरीर तो यही पड़ा रह जायेगा और नष्ट हो जायेगा; लेकिन हम तो रहेंगे। कोई न कोई नया भव (शरीर) धारण करना पड़ेगा।

अनादिकाल से लगाकर आजतक हमने अनन्त भव धारण किये हैं। चार गति और चौसासी लाख योनियों में यह जीव भ्रमण करता ही रहा है; लेकिन इसे याद कुछ भी नहीं है।' प्रवचनकार बाबू ज्ञानविलासजी ने कहा तो सुधी श्रोता राजमलजी ने प्रश्न किया –

इस भव से पूर्व भी हमारा अस्तित्व था। यह बात सिद्ध कैसे होवे। हमें तो कुछ भी याद नहीं है? कृपया तर्क से यह बात सिद्ध कीजिए।

'इस भव से पूर्व में भी हमारा अर्थात् आत्मा का अस्तित्व था – इस बात को समझने के लिये हमें इस विश्व में प्राणियों के साथ पायी जानेवाली विषमताओं पर दृष्टिपात करनी होगी और सोचना होगा कि इतनी विषमतायें क्यों हैं ?'

एक व्यक्ति जन्म से ही दुःखी-दरिद्री, कुरूप-रोगी और लूला-लंगड़ा है तो कोई एक व्यक्ति जन्म से ही सुन्दर और निरोग शरीर का धारक है तथा धनवान भी है। आखिर क्यों है ऐसा ?

यहाँ पर कोइ औरत है तो कोई पुरुष है, कोई कुत्ता है तो कोई बिल्ली है, कोई शेर है तो कोई बकरी है, कोई जन्म से ही सूक्ष्म कीट-पतंगा है तो कोई जन्म से ही व्हेल अथवा हाथी जैसा विशालकाय प्राणी है; आखिर क्यों है ऐसा ?

सभी एक समान क्यों नहीं हैं ? जन्म के समय से ही ऐसी विषमतायें क्यों हैं प्राणियों के साथ ? क्या ये विषमतायें अकारण हैं अथवा इनके पीछे कोई न कोई ठोस कारण अवश्य विद्यमान हैं ?

यदि कोई कहे कि ये विषमतायें अकारण ही हैं तो ऐसा तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि हमें इस बात को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि यह विश्व और इसकी सम्पूर्ण व्यवस्था किसी न किसी निश्चित नियम के अनुसार ही चल रही है। यदि ऐसा न होता तो इस विश्व की सम्पूर्ण व्यवस्था ही गड़बड़ा जाती। हम बोते तो मटर और उग आते आलू! हम बोते तो बबूल और उग आते आम! पर ऐसा तो होता ही नहीं है। अतः इतना तो निश्चित ही है कि यहाँ पर सबकुछ एक निश्चित नियम के अनुसार ही संचालित हो रहा है। प्रत्येक बात के पीछे कोई न कोई ठोस कारण अवश्य विद्यमान है। अकारण यहाँ पर कुछ भी नहीं होता। यह विश्व कारण और कार्य के ठोस नियम के अनुसार ही संचालित हो रहा है।

अतः इतना भी निश्चित ही है कि इन विषमताओं के पीछे भी कोई न कोई ठोस कारण अवश्य विद्यमान हैं।

अब हमें विचार ये करना है कि आखिर वे कारण क्या हैं ?

गम्भीरता से विचार करने पर यही समाधान प्रगट होता है कि जिस किसी ने भी खोटे कर्म किये वह दुःखी -दरिद्री, लूला-लंगड़ा और रोगी हुआ और जिसने सत्कर्म किये वह स्वस्थ, सुन्दर, निरोग एवं धनवान हुआ। इसीतरह से जिसने सत्कर्म किये, वह पुरुष हुआ और जिसने खोटे कर्म किये वह स्त्री अथवा उससे भी हीनपर्याय का धारक सूक्ष्म कीट-पतंग हुआ।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणियों को जो भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल संयोग प्राप्त हुए हैं, वह उनके स्वयं के द्वारा किये हुए अच्छे अथवा बुरे कर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्त हुए हैं।

अब सवाल यह उठता है कि विभिन्न प्राणियों ने ये अच्छे अथवा बुरे कर्म किये कब ? जिसके फल में उन्हें जन्म के समय से ही अनुकूलतायें अथवा प्रतिकूलतायें प्राप्त हुईं।

समाधान निश्चित रूप से यही होगा कि इस भव से पूर्व भी आत्मा का अस्तित्व किसी न किसी भव के रूप में निश्चित रूप से रहा होगा या जिसमें उसने अच्छे अथवा बुरे कर्म किये और उन कर्मों के अनुसार ही उसे वर्तमान भव और उसमें पायी जानेवाली अनुकूलतायें और प्रतिकुलतायें प्राप्त हुई।

इसप्रकार से यह सिद्ध होता है कि इस भव से पूर्व भी आत्मा का अस्तित्व था और भविष्य में भी रहेगा। भले ही हमें याद न रह पाता हो।

इसके अलावा विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं में भी आये दिन पुनर्जन्म के किस्से प्रकाशित होते रहते हैं। इन सभी बातों से आत्मा के त्रिकाली अस्तित्व की ही सिद्धि होती है।

इसप्रकार यह तो निश्चित ही है कि इस भव से पूर्व में भी हम थे, वर्तमान में भी हैं और भविष्य में भी हम रहेंगे ही।

जरा सोचिये तो ! अनादि से लेकर आजतक हमने कितने शरीर धारण किये;लेकिन उनमें से कोई भी शरीर अपना हो सका क्या ? यह वर्तमान शरीर भी अपना हो सकेगा क्या ? फिर इसके प्रति मोह कैसा ?

विभिन्न प्रकार के शरीर के धारण करते हुए भी जो कभी शरीररूप नहीं होता – ऐसे ज्ञानदर्शनस्वरूप अपने आत्मा के साथ ही अपनी प्रीति जोड़नी चाहिए। उसे ही अपना जानना एवं मानना चाहिए।

जैसे एक व्यक्ति जीवनकाल से लगाकर मृत्युपर्यंत अनेकों वस्त्र धारण करता है; लेकिन वह उन वस्त्रों को ही अपना स्वरूप नहीं मानता। वस्त्रों से पृथक् स्वयं का अस्तित्व मानता है, इसीतरह से यह शरीररूपी वस्त्र से भी पृथक् हमारा

त्रिकाली अस्तित्व है। उस त्रिकाली ध्रुव ज्ञानदर्शनस्वरूप भगवान आत्मा में ही हमें अपनापन स्थापित करना चाहिए। बाबू ज्ञानविलासजी नें सविस्तार तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत किया तो सुधी श्रोता राजमलजी को इस बात की प्रतीति होने लगी कि वास्तव में मैं आत्मा ही हूँ और भविष्य में भी रहूँगा तथा पूर्वभव में भी मेरा अस्तित्व था। राजमलजी को धर्म श्रवण की नयी-नयी ही रुचि जाग्रत हुई थी। काफी आनन्द आने लगा था उनको ऐसी बातें सुनकर। उनके चिन्तन-मनन में भी अक्सर यही बातें चलती रहती थीं; लेकिन एक ही प्रश्न बार-बार उनके मस्तिष्क में पैदा होता रहता था – 'इस भव से पूर्व भी मेरा अस्तित्व तो था; लेकिन याद कुछ भी नहीं है – ऐसा क्यों ? कितना अच्छा होता यदि पूर्वभव की बातें भी याद हो आतीं; खैर भले ही याद न हो तो क्या हुआ; लेकिन इतना तो निश्चित ही है कि पूर्व में भी मैं था।' और इसीप्रकार की सोच को लिये हुए वह प्रवचन सुनकर अपने घर पहुँचे और काम-काज में व्यस्त हो गये।

तरह-तरह के लोग पाये जाते हैं इस विश्व में। सबकी रुचियाँ भिन्न-भिन्न हैं। सबकी सोच भिन्न-भिन्न है। कोई तो यहाँ पर संग्रह वृत्तिवाला व्यक्ति है तो कोई उदार दानी प्रवृत्ति का व्यक्ति। सुधी श्रोता राजमलजी की धर्मपत्नी संग्रह वृत्ति वाली महिला थीं। विभिन्न प्रकार की उपयोगी और अनुपयोगी वस्तुओं का संग्रह करने में वह विशेष रुचि रखती थीं। अपने द्वारा संग्रह की हुई वस्तुओं का कबाड़खाना उस दिन उसने खोला और एक बहुत बड़ा पोटला लेकर बैठक रूम में आ गयी। पोटले को देखकर राजमलजी ने पूछा।

"यह कैसा पोटला है ? क्या है इसमें ?"

"कपड़े हैं"

"कपड़े ! कैसे कपड़े ?"

"आपके कपड़े हैं।"

"मेरे कपड़े ! क्यों मजाक करती हो। इतने सारे कपड़े मेरे कहाँ से आ गये।"

"आपके ही हैं उतरे हुए।" पत्नी ने कहा तो राजमलजी की समझ में आ गया कि यह कपड़े वास्तव में उन्हीं के हैं; क्योंकि पत्नी की संग्रहवृत्ति की आदत से तो वह परिचित थे ही। बोले – 'अरे! अबतक इन्हें सम्भाल के क्यों रक्खा है? गरीबों को दान में क्यों नहीं दे दिए? अब दे देना।'

"दान में कैसे दे दूँ; इन्हें बेचूँगी, कुछ न कुछ पैसे आ ही जायेंगे। बस जो भी चीज हो दान में दे दो। जैसे बहुत लखपती हो गये हों।" पत्नी ने कहा तो राजमलजी चुप हो गये। जानते थे कि पत्नी से ऐसा ही जवाब मिलनेवाला है। पहले कई बार कह चुके थे कि लखपति, करोड़पति होना है तो किस्मत से

होंगे। ऐसी कंजूसवृत्ति से नहीं होंगे; लेकिन कुछ नहीं कहना ही ठीक समझा। इसी बीच पत्नी पोटली खोल चुकी थी और उसमें से बिकने योग्य कपड़ों को छाटने लगी।

शादी के समय से लेकर के अबतक के उतरे हुए सारे कपड़े विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे शर्ट एवं पेन्ट जो कि समय

के साथ ही अपनी चमक-दमक खो चुके थे।

अपने ज्ञान में से विस्मृत हो चुके कपड़े राजमलजी के ज्ञान में एक-एक करके पुनः उभरने लगे। वे देखते रहे और पत्नी एक-एक ड्रेस के बारे में व्याख्या करती रही – ये पेन्ट शर्ट यहाँ से खरीदे थे, ये मेरे पिता के घर से आये थे, ये यहाँ से आये थे, वहाँ से आये थे – ऐसे थे वैसे थे आदि।

राजमलजी सोचने लगे – "अरे ये इतने सारे मेरे कपड़े जिन्हें मैं बिल्कुल ही भूल चुका था। अब एक-एक करके पुनः याद आ रहे हैं। क्या ऐसे ही इन कपड़ों के समान ही मेरे पूर्व के भव नहीं हैं; जिन्हें मैं भूल चुका हूँ। यह बात निश्चित ही है; भले ही याद न हो तो क्या हुआ। इस भव के अन्दर पहने हुए कपड़ों को ही जब मैं भूल चुका तो फिर पूर्वभवों को भूल जाना तो स्वाभाविक ही है।

वर्तमान में धारण किये हुए यह कपड़े भी कुछ काल बाद भूतकाल की बात नहीं हो जायेंगे क्या ? इसीतरह से यह वर्तमान भव भी कुछ काल बाद भूतकाल में नहीं समा जायेगा क्या ? निश्चित ही समा जायेगा। फिर इनकी इतनी चिन्तायें क्यों? इस भव के प्रति इतना मोह क्यों ? पर्याय के मोह से ऊपर उठकर ज्ञानरूप रहकर जीना चाहिए। इसी में सार है, इसी में आनन्द है। मैं तो ज्ञायक हूँ। सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा हूँ। अपने-अपने स्वकाल में उत्पन्न होनेवाली चित्र-विचित्र पर्यायों का तमाशगीर (दर्शक) मात्र हूँ, मैं तो बस मैं हूँ, अपने में ही हूँ, परिपूर्ण हूँ, मुझे पर से क्या ?"

इसप्रकार के चिन्तनपूर्वक राजमलजी को दृढ़ आत्म प्रतीति हो गयी। बाबू ज्ञानविलासजी के प्रवचनों में सुने हुए तत्त्व से उनका साक्षात्कार हो गया और वे अपने आपको धन्य महसूस करने लगे। धन्य जिनवाणी श्रवण और धन्य ज्ञानियों की वाणी। वे अपने अन्दर विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने लगे। ●

निरीक्षण

मेरे चाचाजी अक्सर कहा करते थे – "बेटा ! इस दुनिया में बिना कारण के कभी भी कोई बात नहीं हुआ करती। प्रत्येक बात के पीछे कोई न कोई ठोस कारण अवश्य विद्यमान हुआ करता है। जगत में कभी भी किसी के साथ कोई अन्याय नहीं हुआ करता। प्रकृति में अन्याय नाम की कोई चीज ही नहीं है। सबके साथ बराबर न्याय हो रहा है। यदि किसी के साथ अन्याय होता हुआ हमें दिखाई देता है तो वह वास्तव में अपनी दृष्टि का ही दोष है। प्रत्येक प्राणी अपने सुख व दुःख के लिए स्वयं जिम्मेवार है। प्राणी जो कुछ भी है, जिस रूप में भी है, वह स्वयं के ही कारण से है किसी दूसरे के कारण से नहीं आदि।"

और इसके साथ ही साथ वे यह भी कहा करते थे कि – "बेटा ! ये बातें कोई कोरी कल्पना नहीं हैं; वरन् परमसत्य हैं। सर्वज्ञकथित जिनवाणी में तो लिखी ही हैं; पर अनुभव से भी सिद्ध हैं। अल्पज्ञ के ज्ञान में भी साधने योग्य हैं। पर आवश्यकता मात्र ज्ञान नेत्रों को खोलकर यथार्थरूप से सृष्टि का निरीक्षण करने की है।"

मेरे चाचाजी तो अब यहाँ नहीं रहे; परन्तु उनकी ये बातें मेरे चित्त में आज भी विद्यमान हैं और जिनवाणी का स्वाध्याय तो मेरे जीवन में विद्यमान है ही।

मुझे घूमने-फिरने का कोई ज्यादा शौक तो नहीं है; परन्तु फिर भी कभी न कभी तो घूमना-फिरना हो ही जाता है। कभी मजबूरीवश तो कभी स्वेच्छा से।

व्यापार की मजबूरी को लेकर इस बार मैं मुम्बई के लिए रवाना हुआ। ट्रेन आने में अभी लगभग पंद्रह मिनिट की देरी

थी। मैं प्लेटफार्म पर ही इधर-उधर टहलने लगा। साथ ही माहौल का निरीक्षण भी करता जा रहा था। शोर-शराबे और कोलाहल के बीच में ही अचानक मेरी दृष्टि एक गन्दे भिखारी पर पड़ी। गन्दगी के कारण से उसके ऊपर मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। खड़ा-खड़ा ठण्ड में काँप रहा था। तन पर कपड़े नाममात्र के थे और दुबला पतला तो वह था ही। उसके शरीर की बदबू आस-पास के सारे वातावरण में फैल रही थी।

भिखारी के ऊपर से हटकर मेरी दृष्टि अचानक उससे कुछ ही दूरी पर खड़े एक सूटेड-बूटेड बाबूजी के ऊपर जा कर केन्द्रित हो गयी। ये महाशय अभी-अभी ही वहाँ आकर रुके थे। अचानक मुझे अनुभव हुआ कि कहीं से इत्र की खुशबू प्रसारित होकर वातावरण में घुल रही है। मुझे यह समझते देर नहीं लगी कि ये खुशबू उसी सूटेड-बूटेड बाबूजी के कपड़ों से निकल रही है। बाबूजी क्या थे; बल्कि यों कहिए कि खुशबू का भण्डार। भिखारी के तन से आनेवाली बदबू भी इस खुशबू के कारण से कहीं दब कर रह गई।

वही भिखारी भीख मांगता हुआ उन्हीं बाबूजी के पास आकर हाथ फैलाकर खड़ा हो गया। बोला – 'बाबूजी भगवान के नाम पर.....।'

भिखारी को देखते ही बाबूजी के तेवर बदल गये। क्रोधित होकर वे चिल्लाये – "अरे ओ गन्दे भिखारी! दूर हो जा मेरी नज़रों से" कहते हुए उल्टे हाथ से एक झापड़ बाबू ने भिखारी को दे मारा और फिर अपने हाथ को रुमाल से पोंछता हुआ बाबू बड़बड़ाया – 'ना मालूम कहाँ से आ जाते हैं; सुबह-सुबह मूड खराब करने, मेरा तो हाथ ही गन्दा हो गया। गन्दा कहीं का।'

बेचारा भिखारी बाबू के हाथ का झापड़ खाकर नीचे गिर

गया। कुछ समय के लिए तो होश ही गवां बैठा; फिर बड़ी

मुश्किल से उठकर खड़ा होता हुआ कुछ बड़बड़ाता हुआ वहाँ से चला गया।

उक्त सारे दृश्य को देखकर वहाँ खड़े हुए लोगों में से कुछ लोग तो ठहाका मारकर हँस पड़े तो कुछ लोग सामान्य ही बने रहे; पर मेरा मन तो भिखारी के प्रति दया से भर गया और उस बाबू के प्रति मुझे मन ही मन द्वेष एवं क्रोध उत्पन्न हो आया। सोचने लगा – कैसा दुष्ट पुरुष है। बेचारे निर्दोष भिखारी की ये दशा कर डाली। मेरा बस चलता तो अभी इस बाबू को सबक सिखा डालता, दुष्ट कहीं का।

बाबू के प्रति मेरी आँखों से क्रोध झलकने लगा। मैं मन ही मन बैचेन होने लगा कि इस दुष्ट को अपने किये की सजा क्यों नहीं मिल जाती।

पर इसी क्षण मेरे विचारों ने अचानक तेजी से पलटा खाया। मेरे चित्त में यह बात उभर कर आयी कि – बिना कारण के तो कुछ होता ही नहीं है। अन्याय नाम की तो यहाँ

कोई चीज ही नहीं है। दिन-रात इत्र की खुशबू में ही सना रहनेवाला जब गंदगी से परिचित होगा तो क्या होगा ? प्रकृति का तो ऐसा ही स्वभाव है जिसे खुशबू के प्रति मोह है उसे कभी न कभी तो बदबू का सामना करना ही पड़ेगा। जिसे परिग्रह के प्रति तीव्र मोह है उसे कभी न कभी तो भिखारीपने का सामना करना ही पड़ेगा। लाखों करोड़ों रुपयों का, दो नम्बर का धन बैंकों में जमा करानेवाले अगले किसी जन्म भिखारी होकर दाने-दाने के लिए नहीं तरसेंगे तो और क्या होगा ? शोषण करनेवाले अगले किसी जन्म में स्वयं शोषित नहीं होंगे तो और क्या होगा ? प्रकृति में तो सभी बातों का बराबर हिसाब रहता ही है। प्रकृति में अन्याय नाम की तो कोई बात ही नहीं है। वर्तमान में निर्दोष लगनेवाला यह भिखारी वास्तव में निर्दोष नहीं है। यह तो भूतकाल का भयंकर अपराधी है। अपने भूतकाल के अपराध के फल में इस भिखारी को अभी वैसी ही तो सजा मिल रही है जैसी कि इस बाबू को मिलनी चाहिए। यह बाबू भी तो इसप्रकार की सजा को भुगतने से बच नहीं सकता। इसे भी कभी न कभी तो गंदे भिखारी के रूप में उत्पन्न होना ही है; फिर इसे सबक सिखा देने की व्यर्थ की आकुलता कैसी ?

और इसप्रकार के विचारों के साथ ही भिखारी के प्रति मेरे मन में उत्पन्न हुई करुणा और बाबू के प्रति उत्पन्न हुआ क्रोध दूर हो गया। बैचेनी समाप्त हुई और सहज ज्ञातापने का भाव प्रगट हो गया।

वस्तुस्वरूप के अनुकूल ही इस समय मेरा चिन्तन प्रबल होता जा रहा था कि इसी बीच घड़घड़ाहट करती हुई और सीटी बजाती हुई ट्रैन प्लेटफार्म पर आकर धीरे-धीरे रुक गयी। ट्रैन यात्रियों से खचाखच भरी हुई थी। मुझे ट्रैन में

सवार होकर अपने लिए जगह बनाने की चिन्ता खड़ी हुई। ट्रैन में सवार होनेवाले यात्रियों की भीड़ के साथ-साथ मैं भी दरवाजे की तरफ लपका। डिब्बा खचाखच भरा हुआ था। अन्दर चढ़ने तक की जगह नहीं थी। फिर भी मैं जैसे-तैसे करके अन्दर पहुँचा। आगे से भी धक्का और पीछे से भी धक्का। मैं यात्रियों के धक्के खाता जा रहा था और अपने बैठने के लिए सीट की तलाश करता जा रहा था, मेरे एक हाथ में छोटा सा बैग था और दूसरे हाथ में वीतराग-विज्ञान पत्रिका। अनायास ही मुझे आभास हुआ कि बैग कुछ हल्का हो गया है और अगले ही क्षण मैं स्तब्ध रह गया। मैंने बैग को एक हाथ से दबाकर देखा तो वह मुझे बिल्कुल खाली नजर आया। मैंने झट से उसकी चैन खोली और हाथ अन्दर डाला। मेरा हाथ बैग के आर-पार सरक गया। बैग को उल्टा करके देखा तो उसके पेंदे का पूरा का पूरा भाग मुझे कटा हुआ नजर आया। और मैं शीघ्र ही समझ गया कि बैग का पेंदा काटकर किसी ने उसमें रखे हुए मेरे आठ हजार रुपये मार लिये, यानी की मेरी बैग की जेब कट गई। मैं हड़बड़ाकर चिल्लाया, अरे! मेरे रुपये, मेरे आठ हजार रुपये, मेरा बैग किसी ने काट लिया। अरे मेरे रुपये चोरी हो गए। मैं चिल्लाता हुआ और लोगों को धक्के मारता हुआ वापस दरवाजे की तरफ भागा पर वहाँ पर कोई भी मेरी सुननेवाला नहीं था। भीड़ के कोलाहल में मेरी आवाज दब कर रह गयी; मेरे तो होश ही उड़ गये। अब क्या करूँ ? कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था। डिब्बे में ही इधर-उधर भागने लगा। इसी बीच सीटी बजाती हुई ट्रैन धीरे-धीरे चल पड़ी। अब मुम्बई जाना मुझे उचित नहीं लग रहा था; इसलिए ज्यों-त्यों धक्के देकर जगह बनाता हुआ मैं वापस प्लेटफार्म पर उतर पड़ा

और जाती हुई ट्रैन को उदास मन से देखता रहा।

इस समय मेरे दुःख का कोई पार ही नहीं था। मैं मन ही मन जेबकतरों को कोसने लगा; न मालूम मेरे जैसे कितने ही निर्दोषों का खून चूसते रहते होंगे; पापी कहीं के। वो जेबकतरा मुझे मिल जाये तो अभी उसकी ऐसी खबर लूँ कि वह भी जिन्दगी भर याद रखेगा की काटी थी किसी की जेब! और इसप्रकार के उफान के साथ ही उस अज्ञात जेबकतरे के लिए मेरी आँखों से शोले बरसने लगे, चेहरा क्रोध से लाल हो गया, हाथ-पैर क्रोध के मारे तनने लगे; पर वह जेबकतरा अभी यहाँ था ही कहाँ ?

इसी समय अचानक मेरे चिन्तन ने एक नयी दिशा बदली – निर्दोषों के साथ में कभी कुछ होता ही नहीं। क्या निर्दोषों को भी कभी कोई सजा मिलती है ? क्या सचमुच में मैं निर्दोष हूँ ? नहीं-नहीं मैं निर्दोष नहीं हूँ। संभवतः पूर्व में कभी मैं भी वैसा ही कुछ अपराध अवश्य कर चुका हूँ, जैसा कि अभी ये जेबकतरे कर रहे हैं; क्योंकि बिना कारण के तो यहाँ कभी किसी को कोई सजा मिलती ही नहीं। अपराध की सजा तो मिलनी ही चाहिए। फिर ये रुपये जाने का मुझे दुःख कैसा ? इन जेबकतरों को भी अपने अपराध की सजा कभी न कभी तो मिलनी ही है। प्रकृति इन्हें भी तो माफ करनेवाली नहीं है। फिर इनको लेकर व्यर्थ में क्रोध कैसा ? और इसप्रकार के चिन्तन के साथ ही मेरा सारा दुःख क्षणभर में ही विलीन हो गया। क्रोध गायब हो गया और सहज ज्ञातापना प्रगट हो गया। आठ हजार रुपये का गम मैं सहज में ही पचा गया और अब सामान्य सा भाव लिए अपने घर की तरफ वापस रवाना हुआ। एक हाथ में वीतराग-विज्ञान पत्रिका लिये हुए और दूसरे हाथ में वही फटा हुआ बैग थामे हुए। ●

पुण्यास्त

सेठ गुमानीमलजी के जीवन में एक समय ऐसा भी था; जबकी वे अत्यन्त गरीब थे। उनके बचपन के समय की बात है यह तो। उससमय तो उन्हें फटे-पुराने और मैले-कुचैले कपड़े ही पहनने को मिला करते थे। फटी सी काले रंग की नेकर और सफेद रंग का पतला सा कमीज, जो बाँहों पर अक्सर फटा रहता, पहनकर वे इधर-उधर धूमते-रहते। रास्ते में पड़े हुए कागज और रस्सी के टुकड़े तथा लोगों द्वारा फेंकी हुई टूटी-फूटी वस्तुएँ बीनते रहते। उनके मैले-कुचैले वस्त्र और बाल धूल से सने हुए देखकर अक्सर बच्चे उनकी गरीबी का मजाक उड़ाया करते, उन्हें चिढ़ाया करते थे। पर आज तो बात कुछ दूसरी ही है। उनके जैसा धनवान संसारभर में कोई माना ही नहीं जाता।

आज सबकुछ विद्यमान है उनके पास। कार, बंगला, जमीन-जायदाद, मान-सम्मान, बाल-बच्चे आदि सभी कुछ तो विद्यमान है उनके पास।

बचपन में तो वे दुबले-पतले थे, हाथ पैर में अक्सर फोड़े-फुंसी निकल आया करते थे। आज वही शरीर हट्टे-कट्टे इन्सान में परिवर्तित हो गया था। भरा-पूरा चेहरा, गौर वर्ण, उन्नत ललाट, चौड़ा सीना और छह फुट की लम्बाई। सफेद रंग की कीमती धोती और कुर्ता सब मिलाकर उनके व्यक्तित्व को आकर्षक बनाये हुए थे।

और इन्हीं सब बातों का उन्हें अहं भी बहुत था; क्योंकि वे कोई तत्त्वज्ञानी तो थे नहीं; बल्कि वे तो इस बात से अनभिज्ञ थे कि ये सभी बाहर के अच्छे-अच्छे संयोग तो जल के बुलबुले समान क्षणभंगुर हैं।

वे इस बात को क्या जानें कि परिस्थितियाँ सदैव एक जैसी नहीं रहतीं। परिस्थितियाँ बदलते देर नहीं लगती। सुख किसी बाहर की परिस्थितियों के आधार से नहीं, बल्कि स्वयं के ही सम्यक् (निर्मल) परिणामों के आधार से है।

और इसीकारण से वे पुण्य के पक्षपाती थे। उनका मानना था कि पुण्य करेंगे तो सुख मिलेगा। बाहरी अनुकूलताओं में ही सुख माननेवालों को यह बात समझ में आ भी कैसे सकती है कि सुख की प्राप्ति धर्म से होती है न कि पुण्य से। और ऐसे लोगों के लिए तो पुण्य ही धर्म बनकर रह जाता है। वे इस बात को क्या जानें कि पुण्य अलग है और धर्म अलग।

पुण्य से आकुलता से युक्त विनाशीक सुख की प्राप्ति होती है; जबकि धर्म से आकुलता रहित निराकुल एवं शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

सेठ गुमानीमलजी के सामने जब कोई यह बात रखता कि पुण्य भिन्न है और धर्म भिन्न है। सच्चे सुख की प्राप्ति तो धर्म से ही होती है; तो वे तुरन्त अपनी आँखें फेर लेते। चेहरे पर कटुता ले आते और अपना एक हाथ लम्बा करके सुनाने वाले को रोकते हुए कहते – हम तो कुछ नहीं जानते। इतना जानते हैं कि पुण्य के बिना तो सिद्धि है ही नहीं। और इतना कहकर वे फिर से अपने काम में मशगूल हो जाते तथा मन ही मन पुण्य की सार्थकता के बारे में सोचते रहते। सोचते – बिना पुण्योदय के रहने के लिए इतना बड़ा बंगला तो दूर, टूटा-फूटा झोपड़ा भी नहीं मिलता। यदि पूर्व में पुण्य न किया होता तो आज अच्छा-अच्छा भोजन खाने को कैसे मिल पाता ? रहने को इतना बड़ा बंगला कहाँ से मिल पाता। इतने प्रकार की सुख-सुविधायें क्या बिना पुण्योदय के भी प्राप्त हो जातीं ? पूर्व में पुण्य किया है; इसलिए कार में बैठकर घूमने को मिलता है। और अब यदि पुण्य करेंगे तो

आगे भी सुख मिलेगा। इन सभी प्रकार की अनुकूलताओं में सुख कैसे नहीं है ? यदि अनुकूलताओं में सुख नहीं है तो क्या प्रतिकूलताओं में सुख है ? क्या गरीबी में सुख है ?

और ऐसे ही सोचते-सोचते उन्हें अपने सामनेवाले पड़ौसी हीरालालजी की याद हो आती जो कि बेचारे एक टूटे-फूटे झोपड़े में रहते थे तथा सभीप्रकार के अभावों के कारण बहुत दुःखी रहते थे। उनकी पुण्यहीनदशा का विचार करते; फिर अपनी पुण्यवानदशा का विचार करते और फिर मन ही मन पुण्य को भी हेय कहनेवालों को कोसने लगते।

सेठ गुमानीमलजी को समझानेवालों ने बहुत समझाया कि पुण्य से अनुकूलतायें मिलती हैं – यह बात तो ठीक है; परन्तु वे अनुकूलतायें कितने काल की हैं यह तो सोचो ? पुण्योदय का काल समाप्त होते ही फिर वहीं जहाँ के तहाँ राजा से फ़कीर और सेठ से मुनीम अथवा कौआ, कुत्ता, कीड़ा आदि पुण्यजनित सुख तो ऐसा सुख है कि जिसके समाप्त होते ही फिर से अनन्त दुखों का ढेर सामने खड़ा नजर आता है। वह सुख भी सुख कहाँ है ? जिसके पश्चात् दुःख भरा हो। पुण्यजनित अनुकूलताओं का सुख तो इस जीव ने पूर्व में भी अनन्त बार प्राप्त किया है। कई बार स्वर्ग में भी गया है। भोग भूमियों में भी उत्पन्न हुआ है। फिर भी दुःखों की सत्ता का अंत कहाँ हुआ ? स्वर्ग की संपदा की तुलना में तुम्हारे पास अभी क्या सम्पदा है, जो तुम उसमें सुख मानते हो ?

सेठ गुमानीमलजी को और भी समझाया जाता – आप सोचते होंगे कि हम तो लगातार पुण्य करते रहेंगे, कभी पाप करेंगे ही नहीं, जिसके कारण से हमारा पुण्य का उदय भी लगातार आता रहेगा और हम उस पुण्यजनित सुख का भोग भी लगातार करते रहेंगे; परन्तु आपका यह सोचना भी ठीक

नहीं है; क्योंकि लगातार पुण्य के परिणाम हो सकना सम्भव ही नहीं है। पुण्यजनित सुखों का भोग करते वक्त नियम से पाप के परिणाम उत्पन्न होंगे ही। पुण्य के फल में सुखबुद्धिवाले प्राणी के उस सुख को भोगते वक्त नियम से पापकर्मों का संचय होता ही है। पुण्यजनित सुखों का भोग करना ही अपने आप में पाप है। परिणाम अन्तर्मुहूर्त के अन्दर बदलते ही हैं। पुण्य से पाप एवं पाप से पुण्य यह कर्म तो अनादि से चला ही आता है; इसलिए पुण्य एवं उसके फल में उपादेयबुद्धि रखना एवं उसी से अपना कल्याण होना मान लेना यह ठीक नहीं है। यद्यपि उन्हें कई तरह से समझाया जाता; पर सेठ गुमानीमलजी को पुण्य का पक्ष इतना प्रबल था कि उनके चित्त में चिकने घड़े की बूंद की भाँति एक भी बात ठहरती नहीं थी। उल्टे समझानेवालों से ही कन्नी काट लेते।

— ★ — ★ —

सेठ गुमानीमलजी के जीवन में अब वह बात कहाँ जो पहले थी। उनके जवानी के दिनों की तो बात ही कुछ और थी। सभी लोग उनके इशारों पर नाचते थे। उनके परिवार के भी और समाज के भी। पर आज तो बात ही कुछ दूसरी है, आज तो उनकी दशा ठीक वैसी ही है जैसी की एक बूढ़े एवं बीमार हो गये पशु की होती है। उनका जवानी का वह सुन्दर शरीर अब तो बुढ़ापे के रूप में परिवर्तित हो चुका था। सफेद बाल, पिचके हुए गाल, दुबली-पतली थर-थर काँपती हुई काया, आँखों से दिखाई देना और कानों से सुनाई देना बिल्कुल कम हो गया था; पर जुबान अवश्य तेजी से चलती रहती थी।

बरामदे में अन्दर की ओर जानेवाले दरवाजे के पास ही एक खाट पर पड़े रहते। दरवाजे के अन्दर से आने-जाने वालों

को पुकारते रहते पर कोई ध्यान ही नहीं देता। अपने बेटे को बुलाकर कोई बात समझाना चाहते, तब बेटा झिड़क कर जवाब देता – 'चुप रह बुढ्ढे ! पड़ा-पड़ा झिक-झिक किया ही

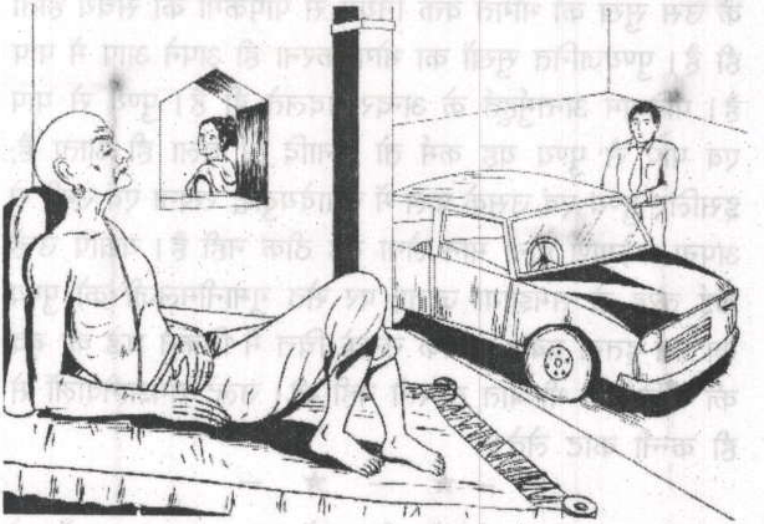

करता है। हम सब समझते हैं, तुम तुम्हारे पड़े रहो चुपचाप। हम नहीं समझते हैं क्या ? जब देखो तब बक-बक।' और नाक भौं सिकोड़ता हुआ उनका लाडला बेटा वहाँ से चला जाता।

बेचारे गुमानमलजी मन मसोस कर रह जाते क्या पता कितने ही लम्बे समय तक दुःख उठाते रहने के बाद उनके जीवन में फिर से पुण्य का उदय आ पायेगा। भगवान ही जाने। ●